मूल्य तीन रुपये आठ आने

प्रकाशक
राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड, बम्बई
मुद्रक
गोपीनाथ सेठ, नवीन प्रेस, दिल्ली

'क्वासि' की यह टेर मेरी

यह मेरा तीसरा गीत-संग्रह पाठकों के सम्मुख उपस्थित है। मेरे एक सम्मान्य मित्र ने अपने हृदय की करुणा और दया की भावना मेरे प्रति व्यक्त करते हुए एक बार कहा था कि प्रगतिशील 'नवीन' तो मर गए, अब बच रहे हैं केवल दार्शनिक नवीन। प्रगतिशील नवीन, सम्भव है, या तो मर चुके हों, या कदाचित् वे कभी, उनके अर्थ में, प्रगतिशील रहे ही न हों। हमारी भाषा में इस 'प्रगतिशील', या 'प्रगतिवादी' शब्द की इतनी मल्लिनाथी टीकाएँ हुई हैं कि वास्तविक रूप से इस शब्द के अर्थ का समझना भी दूभर हो गया है। कभी कोई कवि प्रगतिशील हो जाता है, कभी वही परम्परावादी, प्रति गति-युक्त और प्रतिक्रिया-निरत बन जाता है। दो सम्मान्य मित्रों के सम्बन्ध में एक (अपने-आप को मार्क्स-सिद्धान्त-शास्त्री समझने वाले) आलोचक बन्धु ने कहा था कि उनके संग्रहों की "बहुत-सी कविताओं में विषय और भाषा का जो सामञ्जस्य दिखाई देता है, उसके आगे 'कामायनी' को यह (नख से शिख तक मौलिकतापूर्ण) स्थान देना उचित नहीं मालूम देता।" बात यह थी कि डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कामायनी के सम्बन्ध में यह लिख दिया था कि कामायनी नख से शिख तक मौलिक है और यह भी लिख दिया था कि विषय और भाषा का प्रौढ़ सामञ्जस्य जैसा कामायनी में है वैसा वर्तमान हिन्दी कविता में दुर्लभ है। बस इतने पर वे मित्र बिगडे—कदाचित् इसलिए कि वे स्वर्गीय प्रसाद जी को प्रगतिशील नहीं मानते—और उन्होंने अपनी यह व्यवस्था दे डाली कि डॉक्टर हजारीप्रसाद जी द्वारा की गई कामायनी की प्रशंसा उचित नहीं मालूम देती।

इन मित्रों का यों रुष्ट होना—प्रसाद जैसे (उनकी दृष्टि में कदाचित् परम्परावादी) की यह प्रशंसा सुनकर विचलित होना—समझ में आता है। जिन दो मित्रों का उन्होंने पक्ष लिया है उन्हें वे कभी प्रगतिशील मानते थे।

अब तो उन पर भी डण्डे बरसने लगे हैं। अस्तु। सो उन दिनों वे गति युक्त समझे जाते थे और उनको सर्वश्रेष्ठत्व के नीचे का आसन यदि कोई दे तो उनका पक्ष लिया जाता था। पर, समय बड़ा बलवान है। कुछ दिनों के अनन्तर उन आलोचक बन्धु को यह लगा कि जिनको वे अब तक आकाश में चढ़ाते आये उनके शुद्ध लत्ते लेने चाहिए। कदाचित् वे कवि मित्र-द्वय, आलोचक की प्रगतिवादी दृष्टि से, उतर चुके थे। इस कारण उनमें से एक महानुभाव की जिस प्रकार मिट्टी पलीत की गई है, उसका एक उदाहरण लीजिए। स्मरण रखिये कि ये शब्द उन्हीं आलोचक के हैं जिन्होंने इन कवि मित्र की प्रशंसा का सेतुबन्ध, नल-नील से भी अधिक परिश्रम से, किया था। इन कवि श्रेष्ठ की धज्जियाँ उड़ाते हुए आलोचक महोदय कहते हैं—

"धन्य है वह कवि जो जन्मते ही उत्थान-पतनों को देखने लगा था। उन्हें देखने के बाद जो 'प्रोफेटिक' चेतना जागी, उससे भारत मही भी कृतार्थ हो गई। तभी तो दूसरे महायुद्ध के पहले की एक रचना में उसका तुमुल घोष भी सुन लिया। मैं जागरण का कवि हूँ। भारत की जनता मूर्ख है। जागरण का सन्देश देकर मैंने उसे चिर उपकृत किया है......की हर पंक्ति से यही ध्वनि निकलती है। किसी को विश्वास न हो तो ध्वनि की तरफ कान न लगाकर, शब्दों से मूर्त रूप को ही देख ले।...के लिये लिखा है कि जनता के मन में जो अन्धविश्वास और मृत आदर्शों के प्रति मोह है उसे छुड़ाने का प्रयत्न कर उन्होंने नवीन जागरण का सन्देश दिया है। हिन्दुस्तान की जनता कितनी भी पिछड़ी हुई हो, वह किसी दूसरे की रोटी के सहारे नहीं जीती। हिन्दुस्तान का पिछड़ा-से-पिछड़ा किसान...अमुक जी से ज्यादा दर्शन समझता है। वह ईमानदार है, इसलिए रामनामी के नीचे कामशास्त्र नहीं छिपाता और, सजीव भाषा का प्रयोग तो वह इन्हें युगों तक सिखा सकता है।"

देखा न आपने ? कहीं कुछ हो गया और लगा कलम कुल्हाड़ा चलने। और उन अन्य कवि की भी, जिनकी उन्होंने प्रशंसा की, अन्त में छीछालेदर कर दी। उन्होंने उन कवि को व्यक्तिवादी कहा और अन्त में उन्हें व्यक्तिवाद के स्यार की उपाधि से विभूषित कर उनका श्राद्ध कर दिया।

इसी प्रकार एक और आलोचक मित्र की बात है। जब वे आलोचक इन प्रगतिवादी एकाधिपति आलोचक के गुट्ट में सम्मिलित थे तब तो ये उन्हें एक प्रतिभाशाली आलोचक मानते थे, पर, जब इनसे उनका मतभेद हो गया तो इन्होंने तुरन्त उन्हें निकृष्ट लेखक की उपाधि से विभूषित कर दिया।

एक और मित्र हैं—लेखनी के धनी, सुन्दर वर्णन-सामर्थ्यशील, प्रतिभा-युक्त, जीवन देखे हुए, सुपठित, बहुश्रुत और मौलिक। जब वे इन आलोचक के मित्र थे तब इन महाशय ने उनके सम्बन्ध मे लिखा था कि वे प्रतिभाशाली कवि और आलोचक हैं। पर, अब उनकी इनसे नहीं पट रही है, इस कारण इन धुरन्धर आलोचक की दृष्टि में वे उपहास के विषय हो गए हैं।

एक और मित्र हैं—हिन्दी के उच्च कोटि के कवि, विचारक, उपन्यास-कार, कहानीकार और निबन्ध लेखक। उनका समस्त जीवन साधनामय रहा है—बड़े पैने, कुशाग्रबुद्धि, मौलिक, कल्पनाशील, सहृदय और प्राणवान्। ये ख्यातनामा प्रगति-ध्वजाधारी आलोचक उनसे ऐसे रुष्ट हुए कि उनके सम्बन्ध में कहते-कहते बिलकुल नीचे उतर आये और कहने लगे "'जिससे आप यह न भूल जायँ कि वह मिस मेयो की मानसिक सन्तान हैं।

मेरा निवेदन है कि प्रगतिशीलता के नाम पर जहाँ इस प्रकार का नग्न नृत्य—अपने राग-द्वेषादि मनोविकारों का ऐसा अचैल प्रदर्शन—हो रहा हो, वहाँ साहित्य का वास्तविक मूल्यांकन कैसे हो सकता है? और, इस कारण, मेरे उन मित्र के शब्दों में यदि बेचारे प्रगतिशील 'नवीन' मर चुके हों तो किम् आश्चर्यम्—अतः परम् स्थापनाओं का मूल्य-मान-दण्ड ही जहाँ इतना विकृत, अस्थिर एवं डगमग हो वहाँ उसकी कसौटी पर किसी कवि या साहि-त्यिक कृति का मूल्यांकन कैसे किया जाय? उग्रतापूर्वक लिखना मैं भी जानता हूँ। पर, इन आलोचक बन्धु के विचारों की आलोचना मैं उस रीति से नहीं करूँगा। मै इन महाशय के अध्ययन का प्रशंसक हूँ। वे पढ़ते हैं, विचार करते हैं, भाषा पर उनका प्रभुत्व है। वे परिश्रमशील हैं। मैं यह भी मान सकता हूँ कि उनकी उग्रता, व्यंग-उक्तियाँ, कटुवादिता एवं असन्तुलित सम्मति उनके सिद्धान्त-ग्राह के कारण हैं। किन्तु भाई, इस प्रकार बह जाने से तो काम नहीं चलेगा। स्वयं को यदि हम स्थिर न रख सकें और किसी क्षण, यह समझकर कि अमुक व्यक्ति प्रगति-स्तर से भटक गया है, हम उसे खरी-खोटी सुनाने लगें, तो क्या हमारा वह कर्म सत्-साहित्यालोचन होगा?

जब तक हम तात्त्विक सिद्धान्त को नहीं समझेंगे तब तक काम न चलेगा। हमारे प्रगतिवादी बन्धुओं के विचार पदार्थवादी दर्शन की भित्ति पर आधारित हैं। इसलिए यदि हिन्दी के वर्तमान साहित्यकार उस पदार्थ-वादी दर्शन को स्वीकृत नहीं करते तो उनकी कृतियों और पदार्थवादी आलो-चकों के बीच इस प्रकार का झगड़ा चलता ही रहेगा। पदार्थवाद निश्चय ही ऐसा दर्शन है जिसे कुछ लोग सदाशयतापूर्वक स्वीकार करते हैं। हमारी

भाषा के प्रगतिवादी आलोचक बन्धुओं को वह तथाकथित वैज्ञानिक पदार्थवादी दर्शन मान्य है। ज्ञात नहीं इन आलोचकों ने किस सीमा तक उस दर्शन का अध्ययन किया है। सम्भव है वे उसके तत्त्वों को पूर्णरूप मे हृदयंगम कर चुके हों। यह भी सम्भव है कि उन्होंने ऊपरी रूप से उसे पढ़ा-गुना-सुना हो और स्वीकार कर लिया हो। हमें देखना यह है कि क्या वह तथाकथित वैज्ञानिक पदार्थवादी दर्शन ऐसा है जिसे, सब लोगों को, बौद्धिक सदाशयता के साथ, स्वीकृत करना ही चाहिए? मैं समझता हूं कि पदार्थवादी दर्शन के लिए इतना बड़ा दावा करना अनुचित ही नहीं, सत्यान्वेषण की भावना के भी विरुद्ध है।

मार्क्स ने "फ्योरबाख़ सम्बन्धी स्थापनाएँ" (Theses on Feuerbach) शीर्षक अपने तत्त्व-निरूपण में पदार्थवादी दर्शन पर सूत्र-रूप में अपने विचार व्यक्त किये हैं। उन्हे हम "फ्योरबाख़-सूत्र" कह सकते है। फ्योरबाख़ एक प्रख्यात पदार्थवादी दार्शनिक जर्मनी में हो गया है। उसी के दर्शन पर मार्क्स ने ये सूत्र लिखे हैं। उनमें से पहला सूत्र इस प्रकार है :

The chief defect of all materialism upto now (including Feuerbach's) is, that the object, reality, what we apprehend through our senses, is understood only through the form of the object or contemplation; but not as sensuous human activity; as practice, not subjectively (Prof. Pascal's translation of the Theses on Feuerbach appended to his edition of "The German Ideology", London, 1938, p. 197)

अर्थात् मार्क्स के अनुसार, "अब तक के संपूर्ण पदार्थवाद की (जिसमें फ्योरबाख़ का पदार्थवाद भी सम्मिलित है) न्यूनता यह रही है कि वस्तु-विषय, यथार्थ, जिसे हम इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण करते हैं वह इन्द्रियार्थ केवल-मात्र उस इन्द्रियार्थ के (बाह्य) रूप के अर्थ में अथवा उसके मानसिक ध्यान के अर्थ में ग्रहण किया गया है, किन्तु (उस इन्द्रियार्थ को) सेन्द्रिय मानवीय क्रिया के रूप में हृदयंगम नहीं किया, (उसे) व्यावहारिकता के रूप मे स्वीकृत नहीं किया; (वह इन्द्रियार्थ) स्वक्रिया-रूप में मान्य नहीं किया गया।"

इस सूत्र पर पाठक विचार करें और देखें कि पदार्थवाद के सम्बन्ध में मार्क्स की जो मान्यता है वह कहां तक युक्ति-संगत एवं तर्कपूर्ण तथा ग्राह्य है। स्मरण रखिये कि यह सूत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसी सूत्र से आगे चलकर समूचे पदार्थवादी सौन्दर्य-कला-साहित्य-शास्त्र की उत्पत्ति होती है।

इसलिए हमे इस पर गहनतापूर्वक विचार करना है। इस सूत्र से मुख्यरूप मे दो बातें निष्पन्न होती हैं : प्रथम तो यह कि मार्क्स-पुराकालीन पदार्थवाद की धारणा जड थी; मार्क्स के अनुसार वह गतिशून्य थी; केवल-मात्र बाह्य जगत् के इन्द्रियार्थों अर्थात् इन्द्रियो द्वारा गृहीत बाह्य पदार्थों, को यथार्थ समझ लेना मात्र ही, उनको यथार्थ मान लेना भर ही, उस मार्क्स-पुराकालीन पदार्थवाद का उद्देश्य था, पदार्थों के हृदयंगम होने की क्रिया में जो "सेन्द्रिय मानवीय सक्रियता" है, उसकी ओर उस पुराने पदार्थवादी दर्शन का ध्यान नहीं था और, दूसरे यह कि जो कुछ यथार्थ (Reality) है वह केवल-मात्र वह पदार्थ, वह वस्तु है, जो इन्द्रियो द्वारा ग्राह्य है।

उक्त सूत्र की ये दो मुख्य बातें हैं। निश्चय ही, मार्क्स ने पुराकालीन पदार्थवाद और उनके स्वयं के द्वारा प्रतिपादित तथाकथित वैज्ञानिक पदार्थवाद में जो अन्तर दिखलाया है वह बड़ा विचारपूर्ण, मौलिक एवं तात्त्विक है। मार्क्स की दृष्टि में दर्शन का काम सामाजिक चेतना को जागृत, प्रभावित और चालित करना है। अतः इतना कह देना-भर ही अलम् नहीं है कि इन्द्रिय-ग्राह्य बहिर्जगत् के अतिरिक्त जो कुछ है वह अयथार्थ (Unreality) है। उन्होंने अपनी प्रखर प्रतिभा, गम्भीर विचार-शक्ति एवं गहन मौलिकता के बल पर यह सिद्ध किया कि अरे भाई, इन्द्रियार्थ के ग्रहण करने मात्र की क्रिया मे सेन्द्रिय मानवीय कर्तृत्व निहित है। यह बात मनोवैज्ञानिक आधार पर स्वयं सिद्ध है। इस कारण उन्होंने यह परिणाम निकाला—और शास्त्रीय दृष्टि से उचित तथा मानवीय दृष्टि से नितान्त उदात्त यह परिणाम निकाला—कि बाह्य जगत् के हृदयंगम करने मात्र में जब मानवीय कर्तृत्व है, उस जगत् से प्रति-कृत होने तथा उसके ऊपर प्रतिक्रिया करने का जब यह मानवीय कर्तृत्व (मानव मनोविज्ञान द्वारा सम्मत कर्तृत्व) निहित है, तब निश्चय ही पदार्थ-वादी दर्शन का यह कर्तव्य है, यही उसकी इतिकर्तव्यता है, यही उसकी विज्ञान सम्मत, तर्कसम्मत सार्थकता है, कि वह प्रत्येक दिशा में मानव-जीवन को शुभ की ओर परिवर्तित करने की प्रेरणा प्रदान करता रहे। कितना अद्भुत कितना भव्य निष्कर्ष है।

मै जब, फ्योरबाख सम्बन्धी, ऋषि मार्क्स के ये सूत्र पढ़ता हूँ तो उनकी स्मृति में मेरा मस्तक झुक जाता है। कितनी प्रखर मेधा ! कितना महान् उनका स्पष्ट दर्शन सामर्थ्य !! कितनी गहर गम्भीर मौलिकता !!! निःसन्देह मार्क्स के पूर्व का पदार्थवादी दर्शन गति-शून्य था। मार्क्स ने उस दर्शन को गति दी, उसे समाज-उपयोगी बनाया और उस दर्शन को इस युग

की एक महती शक्ति में परिणत कर दिया। मार्क्स का यह प्रथम सूत्र पदार्थ-वादी दर्शन के इतिहास मे निःसन्देह एक उत्तुङ्ग भूमि-सीमा-चिह्न है। अपने भौतिकवादी दर्शन के प्रतिपादन में मार्क्स न केवल महा मेधावी, वरन् एक महामानव के रूप में प्रकट हुए हैं।

मार्क्स के इस प्रथम सूत्र में जो दूसरी मान्यता है वह मुझे ग्राह्य नहीं है। और इसी कारण प्रथम मान्यता की सार्वभौमिक सत्यता भी मैं स्वीकृत नहीं कर सकता। प्रथम सूत्र की दूसरी मान्यता क्या है? वह यह है कि यथार्थ, सत्य (Reality), वही है जिसे हम इन्द्रियों द्वारा समझते, ग्रहण करते, हृदयङ्गम करते हैं। मैं अपने प्रगतिवादी बन्धुओं से पूछता हूं कि क्या यह मान्यता ठीक है? इन्द्रियोपकरण द्वारा जो कुछ भी हमें उपलब्ध होता है, क्या केवल मात्र वही सत्य है? वही यथार्थ है? मैं यह नहीं कहता कि वह अयथार्थ है। पर, यथार्थ को, सत्य को, इन्द्रिय-बोध द्वारा सीमित करना—उसके परे सब-कुछ असत्, अयथार्थ है, ऐसा मान लेना, मेरी सम्मति मे तर्कशून्य आग्रह है। ज्ञानोपलब्धि—साधन-शास्त्र को देखने से पता चलता है कि इन्द्रियाँ जो कुछ भी ग्रहण करती हैं वह एक झाईं के रूप मे होता है। वास्तविक, यथार्थ,—अर्थात् बाह्य जगत् का इन्द्रिय-गृहीत स्वरूप—क्या वैसा ही है जैसा हम उसका अपनी इन्द्रियों द्वारा बोध करते हैं? इस प्रश्न का तर्कपूर्ण उत्तर 'हाँ' में आज तक देने का साहस, मार्क्सवादियों के अतिरिक्त, अन्य बहुत कम लोगों को हुआ है। क्या यह सत्य नहीं है कि हमारे-आपके लिए जो यह रंगबिरंगा जगत् है, वह एक रंग-अन्ध मानव के लिए नहीं है? तब क्या उस बिचारे रंग-अन्ध जन का इन्द्रियों के द्वारा गृहीत यह जगत् अयथार्थ है? विकार किसमें है? उस रंग-अन्ध में, क्योंकि उसकी संख्या कम है? तब क्या हम बहुसंख्या के बल पर तत्त्व-निरूपण करेंगे? क्या आश्चर्य कि विकार हम बहुसंख्यकों में ही हो? और क्या आश्चर्य कि यह सतरंगी जगत् वास्तव में रंगरहित, अरंगी हो? हम लोग उस मानव को, जो रंग नहीं देखता, रंग-अन्ध कहते हैं। पर, यदि वह हमें भ्रमान्ध कहे तो? मेरे कथन का केवल-मात्र अर्थ यह है कि केवल इन्द्रिय संवेदन को ही यथार्थ का एक मात्र साक्षी मान लेना मुझे भ्रामक प्रतीत होता है। वह वास्तव मे भ्रामक है।

यदि इन्द्रिय संवेदन वास्तव में यथार्थ का बोधक है, यदि वह वास्तव मे हमे, जो भी वास्तविक जगत्-स्वरूप है, उसकी छाया मात्र का बोध नहीं कराता है, तो स्वप्न-जगत् का क्या होगा? स्वप्न जगत् की छायाएँ, जो हमारे मस्तिष्क पर अंकित है, स्वप्न मे यथार्थ जगत् के रूप में आ जाती हैं। तब,

क्या हम उस स्वप्न-विहार को भी यथार्थ मान लें? इन प्रश्नों का उत्तर पदार्थवादी दर्शन, जो इन्द्रिय-बोध को ही यथार्थ का मापक मानता है, आज तक देने मे असमर्थ हुआ है, भविष्य में भी वह उनका उत्तर न दे सकेगा। मानव-समाज के अब तक के अद्भुत अनुभव हमें यह बताते हैं कि इन्द्रिय-बोध के अतिरिक्त भी यथार्थ का अस्तित्व है। निःसन्देह पदार्थवादी दार्शनिक इस बात को नहीं मानेंगे। उनकी इस अस्वीकृति में अनुचित आग्रह का पुट है। वे सम्पूर्ण मानव-समाज के अद्यावधि के अनुभवों से लाभ उठाना नहीं चाहते। उन्होंने अपने को अपनी मान्यता की, अपने आग्रह की, सीमा में बाँध लिया है। उनके द्वार मुक्त नहीं है। इस कारण, उनकी विचारधारा अवैज्ञानिक है। एक सीमा तक प्रगतिवाद के घोड़े पर चढ़कर वे जाते हैं; पर, अन्ततोगत्वा उनके घोड़े का मुख, निर्गतिवाद और प्रतिक्रियावाद की ओर मुड जाता है। यह बात चिन्ताजनक है।

लुडविग फ्योरबाख़ के सम्बन्ध में लिखते हुए फ्रेडरिक ऐंगल्स ने एक स्थान पर अपने विचार यों प्रकट किये हैं—

The great basic question of all philosophy, especially of more recent philosophy, is that concerning the relation of thinking and being From the very early times when men, still completely ignorant of the structure of their bodies under the stimulus of dream apparitions, came to believe that their thinking and sensations were not activities of their bodies, but of a distinct soul which inhabits the body and leaves it at death—from this time men have been driven to reflect about the relation between this soul and the outside world ..Thus the question of relation of thinking and being, the relation of spirit to nature—the paramount question of the whole of philosophy—has, no less than all religion, its roots in the narrow-minded and ignorant notions of savagery. (Feuerbach and end of Classical German Philosophy. Fredric Engels, Marx Engels Selected works, vol II p. 334, Foreign Language Publishing House, Moscow, 1951)

ऐंगल्स कहते हैं कि "सम्पूर्ण दर्शन का, विशेषकर आधुनिक दर्शन का, मूल प्रश्न है विचार और अस्तित्व के सम्बन्ध का। बहुत प्रारम्भिक काल से, जबकि मनुष्य अपने शारीरिक ढाँचे के सम्बन्ध में नितान्त अज्ञानी थे, अपनी स्वप्नच्छाया के उत्तेजन के कारण, यह विश्वास करने लगे कि उनके विचार और इन्द्रिय-संवेदन उनके शरीर की क्रियाएँ नहीं हैं, वरन् वे उनकी उस

आत्मा की क्रियाएँ हैं जो उनके शरीर के भीतर निवास करती हैं और मरण के समय उसे छोड जाती हैं। उस आरम्भिक काल से मनुष्य यह विचार करने पर वाध्य हो गए हैं कि इस आत्मा और बाह्य जगत् के बीच किस प्रकार का सम्बन्ध है। .. इस प्रकार विचार और अस्तित्व के पारस्परिक सम्बन्ध के प्रश्न, चेतस् और प्रकृति के सम्बन्ध के प्रश्न—सम्पूर्ण दर्शन के इस महत्तम प्रश्न और इसी प्रकार सम्पूर्ण धर्म—की जडें जमी हुई दिखाई देती है आदि बर्बरता के संकुचित और अज्ञान तिमिरान्ध संकल्पों मे।"

पदार्थवादी दार्शनिकों की यह मान्यता नितान्त अनैतिहासिक, थोथी, निःसार और मानव-समाज के संचित अनुभव के विपरीत है। आत्मा के विचार के आविर्भाव को स्वप्नों के उत्तेजन का परिणाम कहना जडवादिता की सीमा है। कौनसा इतिहास देखकर यह परिणाम निकाला गया ? उत्तर मिलेगा कि वर्तमान काल में जो भी बर्बर समाज बच रहे है उनके विचारो का अध्ययन करने के पश्चात् इस परिणाम तक पहुँचा गया है। ठीक है, पर प्रश्न यह है कि उन बर्बर समाजों में जो टोने-टोटके, यन्त्र-तन्त्र आदि के प्रयोग होते हैं, उनका भी अध्ययन किया गया है ? यदि नहीं, तो क्यो नहीं ? यदि हाँ, तो क्या कोई ऐसे अद्भुत दृग्विषय दीख पड़े हैं जिनका भाष्य वैज्ञानिक भौतिकवाद करने में हिचकता है ? बर्बर समाज में जो भी पैठ पाये हैं उन्हें सहस्रों बार इस प्रकार के महदाश्चर्यपूर्ण दृग्विषयों से पाला पडा है। पदार्थवादी दार्शनिकों ने उनका कोई समीचीन स्पष्टीकरण किया या केवल उन बातो को कपोल कल्पना कहकर ही उन्होंने टाल दिया ? बर्बर समाज की स्वप्नोदित छायाओ को आत्मा विषयक विचार की जननी मानने-मनवाने का उपहासास्पद प्रयत्न करने वाले जन क्या स्पष्टीकरण करते हैं उन विज्ञानोपरि घटनाओं का जो चन्द्रशेखर वेंकटरमण जैसे वैज्ञानिकों को भी आश्चर्य में डाल देती हैं ? पोटेशियम साइनाइड नामक विष के अणुमात्र से क्षण-भर में मृत्यु हो जाती है, कलकत्ता साइन्स इन्स्टीट्यूट मे डा० रमण के सम्मुख एक हठयोगी ने इतना साइनाइड विष खा लिया जिससे सैकडों मनुष्य मर सकते थे, और वह खडा व्याख्यान देता रहा। जब रमण महोदय से पूछा गया कि यह क्या बात है ? तो वे बोले—It is a challenge to science, यह विज्ञान को एक चुनौती है,

प्रगतिवादी भौतिक दर्शन शास्त्री अथवा उनके अनुयायी यह पढ़कर हँसेंगे। पर अनुचित आग्रहपूर्ण हँसी में वास्तविक घटना निमज्जित नहीं होगी। भौतिक प्रतिक्रिया को—मानव शरीर पर हलाहल विष की प्राणघातक प्रतिक्रिया को—जो शक्ति अतिक्रमित कर दे, वह क्या है ? आधिभौतिक,

या अभौतिक, अतः आध्यात्मिक ? इतना ही क्यों ? हम अपने समाज में, आये दिन पुनर्जन्म के आश्चर्यजनक उदाहरण देखते-सुनते रहते है। क्या यह सब छोटे-छोटे बालको के मन पर अजान रूप से पुनर्जन्म विषयक विचारों को थोपने का परिणाम मात्र ही है ? ऐसा कहना साहस का काम होगा—विशेष-कर उस अवस्था में जबकि उन बालक-बालिकाओं द्वारा दूर के ग्राम-नगर का भूगोल बता दिया जाता है, वहां के एक विशिष्ट घर और कुटुम्ब का हाल बता दिया जाता है और उस घर तथा कुटुम्ब के जनों के नाम भी बता दिये जाते हैं। इस देश मे ऐसी एक नहीं सहस्रो घटनाएँ घटती रहती हैं। इनको कपोल कल्पना कहकर टालना अवैज्ञानिक अथच प्रतिक्रियावादी, मनोवृत्ति का परिचय देना है।

धर्म को, शरीर से आत्मा के पृथकत्व को "आदि बर्बरता के संकुचित और अज्ञान तिमिरान्ध संकल्पों" से सम्भूत मानना प्रति-गति-पूर्ण प्रतिक्रिया-वादी सिद्धान्त है। हमें दुख है कि ऋषि कार्ल मार्क्स और प्रकाण्ड विद्वान् शिरोमणि फ्रेडरिक ऐंगल्स ने इस प्रकार की जडतापूर्ण स्थापना को स्वीकृत करके अपने दर्शन तत्व को गति शून्य एवं प्रतिक्रियावादी बना दिया है। इस प्रकार उन्होंने मानव प्रगति को रोक दिया है।

इस दर्शन-सिद्धान्त पर जो भी साहित्य-कला-सौन्दर्य शास्त्र आधारित होगा, वह पूर्ण रूप से ग्राह्य नहीं हो सकता। इस प्रकार का शास्त्र, उस अंश तक जिस तक वह अपने को पदार्थवादी दर्शन का अनुगामी बना लेता है, मानव प्रगति को रोकने वाला, अतः मानवोन्नति-बाधक, गति-अवरोधक, अचल तथा प्रतिक्रियावादी सिद्ध होगा। इस प्रकार के साहित्य-कला-सौन्दर्य शास्त्र मे केवल उसी सीमा तक गति होगी जिस सीमा तक वह जीवन के तथ्य को स्पर्श, विकसित और प्रस्फुटित करेगा। किन्तु जिस समय वह शास्त्र जीवन के तथ्य को केवल भौतिकता में बाँधने का दुराग्रह करने लगेगा, उसी समय वह विचार-विकास-विरोधी के रूप में प्रकट हो जायगा। हिन्दी के आलोचना-इतिहास मे इसी प्रकार की प्रवणता, इसी प्रकार के झुकाव, का आविर्भाव हो गया है। यह खेद की बात है।

आज का पदार्थवादी आलोचक मानो कहता है:—

साहित्य को, देखो, जिसे मैं यथार्थ, सत् मानता हूँ उसे तुम यदि चित्रित या परिवर्द्धित करोगे तब तक तो ठीक है; तुम्हें मेरी प्रशंसा मिलेगी, तुम्हे मै आसमान पर चढाऊँगा, पर, याद रखो, यदि तुमने कहीं ममाग्रह के विपरीत कोई अभिव्यक्ति की तो तुम्हें और तुम्हारी सात पीढ़ी तक को मै

कलम-कुल्हाड़े के घाट उतार दूँगा। हाँ, देखूँ, तुमने क्या लिखा है? यह कविता? देखने दो:—

हल! हल! हल! चलाओ, हल!!
हुमक धरित्री की छाती मे तुम पैदा कर दो हल-चल!
हल! हल! हल! चलाओ, हल!!

(१)

क्या सन्ध्या? क्या रात सवेरा?
क्या मध्याह्न-सूर्य का फेरा?
श्रम मे क्या तेरा? क्या मेरा?
सब मिल आज लगाओ बल,
हल! हल! हल! चलाओ, हल!!

(२)

निज तन-मन का आलस झाड़ो,
भूमि सुधारो, काँस उखाड़ो;
आज विजय का झण्डा गाड़ो,
रहे न दारिद का दल-दल;
हल! हल! हल! चलाओ हल!!

(३)

पकड़ो हल तुम मुट्ठी भीच,
बैल ले चलें उसको खीच,
हुलसाओ भू, श्रम-कण सीच,
कृषक अडिग तुम, तुम निश्चल,
हल! हल! हल! चलाओ हल!!

(४)

फाड़ो धरती और पहाड़,
सुनकर तव विकराल दहाड़,—
काँपें शोषक खीसें काढ़!
उर्वर बने भूमि प्रति पल,
हल! हल। हल! चलाओ हल!!

(५)

तुम हो भागी सिरजनकारी,
अति अमाप है शक्ति तुम्हारी,

तुम हो आशा की चिनगारी,
तुम मानवता के सम्बल,
हल ! हल ! हल ! चलाओ हल !!

(६)

तुम जंगल के मंगल-कर्ता,
तुम जन-गण के पोषक, भर्ता,
तुम हो क्षुधा-व्यथा के हर्ता,
अन्न तुम्हारे श्रम का फल,
हल ! हल ! हल ! चलाओ हल !!

(७)

बोओ, सींचो, और निराओ;
पर, जब कौवे, कीर उड़ाओ—
तब तुम प्रगति-गीत मिल गाओ;
सामूहिक कृषि ध्येय अटल !
हल ! हल ! हल ! चलाओ हल !!

हूँ ! अच्छा ? यह तुम्हारी कविता है ? तुम तो वास्तव में प्रगतिशील कवि हो। कृषक के हल चलाने के सम पर यह तुम्हारा छोटा सा गीत भी बढ़ चलता है। लेकिन छोटे-छोटे कदम रखकर चलने वाले वामन जैसे इस छन्द में तुमने कृषक जीवन का अनोखा ठाठ रच दिया है। नई हिन्दी कविता के निर्माण में जो अनेक प्रतिभाशाली कवि लगे हुए हैं, उनमें तुम्हारा महत्त्व-पूर्ण स्थान है। तुम जनता की भावनाओं और उनकी भाव व्यंजना के प्रकारों को बहुत निकट से पहचानते हो। इसलिए तुम्हारा उत्तरदायित्व भी विशेष है। पर, तुम खूब निखर आये हो। मानव प्रगति के तत्त्व को तुम हृदयंगम कर चुके हो। तुमने सामूहिक कृषि की ओर जो ध्येय के रूप में संकेत किया है, वह तो तुम्हारे क्रान्तिशील व्यक्तित्व एवं चिन्तन का बहुत सुन्दर प्रमाण है।......

पर, ऐं ?? यह क्या ??? तुमने यह क्या लिखा है ?

एक बिन्दु, इन्दु-मथित सिन्धु-लहर छोड़ चली,
लघु ससीम औ' असीम बीच लगी होड़ भली।

(१)

निज विराट् रूप त्याग, बिन्दु हुई तन्वंगी,
अपरिमेय, अमित मापराशि हुई अरणवंगी,

अगमा गतिगम्य हुई अनिलानल-रँग-रंगी;
नाना विधि रूप धरे विचर रही गली-गली,
बिन्दु, सिन्धु छोड़ चली।

(२)

हर हर कहते गतियुत, द्रुत मारुत-रथारूढ,—
अम्बर मे विचरण की हिय मे भर व्यथा गूढ,—
लेने दिक्-काल-थाह निकली यह बिन्दु मूढ;
निज असीम, अगम, गहन गृह से मुँह मोड चली;
बिन्दु, सिन्धु छोड चली।

(३)

क्षण मे वह वाष्प बनी, क्षण मे वह ओस-बिन्दु,
क्षण मे घन-वारि-उपल, फिर, चातक-तोप, बिन्दु;
किन्तु आत्म-तुष्टि कहाँ यदि न प्राप्य गहर सिन्धु?
तन्मयता शून्य विलग रहनि इसे आज खली,
बिन्दु, सिन्धु छोड़ चली।

(४)

अम्बर का भ्रमण किया, बैठी भू-गर्भ बीच;
सरसाया नव जीवन पादप, तृण सींच-सींच,
देखा चिरकाल-कलन, अवलोका ऊँच-नीच,
किन्तु न क्षण भर को भी गृह की सुधि रंच टली,
बिन्दु, सिन्धु छोड चली।

(५)

ओ गभीर स्नेह-सिन्धु, ओ सुदूर इन्दु पूर्ण,
इस बौरी बिन्दी का हुआ सकल गर्व चूर्ण;
विलग रूप अब असह्य, असहनीय चक्र घूर्ण,
घहर उठो सम्मुख अब, बीत चुकी युगावली,
बिन्दु, सिन्धु छोड चली।

यह भी तुम्हारी कविता है? तो, मैंने जो तुम्हें प्रगतिशीलता के प्रमाणपत्र दिये थे उन्हें मै वापिस लेता हूँ। तुम कवि नहीं, तुम तुक्कड, भोंडे, पलायनवादी, रहस्य-क्रोड-दुबक, दो कौडी के आदमी हो। तुम प्रतिक्रियावादी हो। तुम, मैं इस समय जिसका नाम भूल रहा हूं, उसकी, उस

पलायनवादी, प्रतिक्रियावादी स्वार्थों की मानस सन्तान हो। तुम समझौतावादी हो। उपनिषत् का जो जघन्य समझौतावादी दर्शन है—वह नपुंसक, नख-दन्त तोड़ डालने की शिक्षा देने वाला जो कायर दर्शन है—उसके तुम अनुयायी हो। हट जाओ मेरे सम्मुख से। नहीं तो मैं तुम्हें अभी अपने प्रगतिवादी तप के बल से भस्म कर दूंगा।

इस प्रकार की आलोचना-वृत्ति हिन्दी में चल रही है। मेरा केवल इतना निवेदन है कि इस प्रकार के आग्रह से हिन्दी में इन लोगों की मनचाही प्रगतिशीलता का आविर्भाव नहीं होगा। प्रगतिवादी बन्धुओं की प्रगतिशीलता, जैसा मैं कह चुका हूं। वास्तव में प्रतिगामिता है। इस प्रकार के जड़वाद को हिन्दी संसार नहीं अपनायेगा। मानव को उन्नत, बन्धन-मुक्त करना, मानव समाज को भेड़ियों के समाज से भिन्न स्थिति प्रदान करना, यह सब का लक्ष्य है। पर, यदि कोई यह कहे कि राग, द्वेष, घृणा और हिंसा वृत्ति को उभारने से ही उस प्रकार के समतावादी समाज का निर्माण हो सकेगा, तो मेरा निवेदन है कि ऐसी मान्यता ऐतिहासिक और वर्तमान मानव समाज के घटना-क्रम के विरुद्ध है।

मार्क्स और एंगल्स ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया था कि श्रेणीबद्ध समाज में कोई कला ऐसी हो ही नहीं सकती जो प्रत्यक्ष या गौण रूप से किसी श्रेणी विशेष के हितों को प्रतिबिम्बित न करती हो।

इस सिद्धान्त को लेनिन ने और आगे परिवर्द्धित किया। लेनिन ने यह सिद्ध किया कि चूँकि वर्ग समाज की सम्पूर्ण कला स्वभावतः पक्षावलम्बी (Partisan) होती है, इसलिए श्रमिक समाज की कला को भी पक्षावलम्बी होना चाहिए। उन्होंने इस प्रकार के पक्षपात का बड़ा गम्भीर विवेचन किया। सन् १६०५ में उन्होंने एक लेख लिखा था जिसका शीर्षक था "दल-संगठन और दल-साहित्य" (Party Organisation and Party Literature)। लेनिन ने बतलाया कि पक्षावलम्बन (Partisanship) का अर्थ क्या है। जब वर्ग भेद तीव्रतापूर्वक आगे बढ़ रहा हो तब प्रत्येक कलाकार को अपनी वर्ग-मैत्री या वर्ग लगाव को स्पष्टत. प्रकट करना होगा और उस (वर्ग) संघर्ष में अपना निश्चित स्थान ग्रहण करना होगा। लेनिन आगे कहते हैं :

"To offset Bourgeois custom, to offset the commercial Bourgeois press, to offset Bourgeois literary cereerism and profit-seeking, the Socialist Proletariat must put forward the principle of Partisan Literature, must develop this principle and carry it out in the

completest and most integral form".

इसका अर्थ है कि "पूँजीवादी प्रथा, यानी सामाजिक परिपाटी, को कुण्ठित करने के लिए, पूँजीवादी जीवन-यापन-वाद और व्यक्तिवाद को कुण्ठित करने के लिए, 'छैलाशाही' अराजकवाद और धन-लाभ प्राप्ति को कुण्ठित करने के लिए यह आवश्यक है कि समाजवादी श्रमिक वर्ग पक्षावलम्बी साहित्य के सिद्धान्त को सम्मुख रखे, उसका प्रतिपादन करे, उस सिद्धान्त को विकसित करे, और उस सिद्धान्त को सम्पूर्ण एवं अत्यन्त अविभक्त रूप से कार्य रूप में परिणत करे।"

जो धारणाएँ, जो सैद्धान्तिक मान्यताएँ मार्क्स, ऐंगल्स और लेनिन की हैं उनके अनुसार तो यही निष्कर्ष निकलेगा जो महामानव लेनिन ने निकाला है। परन्तु जो बात विचारणीय है वह यह कि क्या उनकी वे मान्यताएँ ऐतिहासिक रूप से सत्य हैं ? भारतीय साहित्य की ओर दृक्पात कीजिए और देखिये कि क्या मार्क्स-ऐंगल्स-लेनिन की बात ठीक है ? उनका यह कथन, कि श्रेणीबद्ध समाज में साहित्य कला तथा अन्य कलाएँ श्रेणी विशेष के हितों को प्रतिबिम्बित करती है, भारतीय दर्शन-साहित्य, उपनिषत् साहित्य, आदि काव्य-साहित्य पर घटित होता है ? भारतीय दर्शनों का साहित्य किस श्रेणी के हित को दरसाता है ? क्या ब्राह्मण श्रेणी के ? कदापि नहीं। ईश, केन, कठ, आदि उपनिषत् ग्रन्थों का साहित्य किस श्रेणी के हित का प्रतिबिम्बक या समर्थक है ? रामायण क्या क्षत्रिय श्रेणी-हितों का उन्नायक ग्रन्थ है ? जिसका मस्तिष्क यथास्थान है वह तुरन्त देख लेगा कि मार्क्स-ऐंगल्स-लेनिन का वह पक्षावलम्बी सिद्धान्त भारतीय साहित्य की इन धाराओं पर लागू नहीं होता।

और चलिये। अजन्ता के गुहा चित्र किस श्रेणी के हित-प्रतिबिम्बक हैं ? यों मारूँ तीर, लगे तो तीर, नहीं तो तुक्का है ही—इस प्रकार से काम नहीं चलेगा। मैं यह मान लेता हूँ कि कुछ देशों में, कुछ काल मे, साहित्य और कला श्रेणी-हित-प्रतिबिम्बक बनकर रह गए हों। पर, यूरोप के चार-छः छोटे-मोटे देशों में प्रवाहित तत्कालीन धारा को शाश्वत सैद्धान्तिक सत्य का स्वरूप दे देना भूल है।

मै पक्षावलम्बी साहित्य का विरोधी थोड़े ही हूँ ? हिन्दी में जनसमूह की इच्छाओं, आकांक्षाओं, आशाओं, विकास-इच्छाओं, नवनिर्माण-भावनाओं को लेकर ऊँचे स्तर का साहित्य-सृजन हो—यह मेरी हार्दिक अभिलाषा है। पर, एक शब्द को लेकर जो किच-किच किट-किट आये दिन होती रहती है वह

मुझे नितान्त थोथी जँचती है। पक्षावलम्बी साहित्य में यदि सन्तुलन, संयम, यथार्थ-दर्शन का अभाव हुआ तो वह साहित्य साहित्य न होकर चों-चों का मुरब्बा बन जायगा। और, यदि कहीं उसमें अधःपातक मनोविकारों का पुट आ गया तो हिन्दी भाषी मानव कदाचित् दानव बनकर रह जायगा। अतः पक्षावलम्बी साहित्य निर्माण में हमें विशेष सावधानी बरतनी चाहिए।

किसी भी साहित्य स्रष्टा की कृतियां, यदि वे मानव को ऊँचे उठाने-वाली हैं, तो अमर होंगी। अन्यथा वे क्षण-स्थायी होंगी। साहित्य सृजन करने वाले में किन-किन गुणों का होना आवश्यक है? इस प्रश्न का उत्तर किंचित कठिन है। भिन्न-भिन्न रूप से विचार करने वाले जन इसका उत्तर भिन्न-भिन्न रूप से देंगे। मेरे मत में साहित्यस्रष्टा के लिए इन गुणों को प्राप्त करना नितान्त आवश्यक है:—

१. स्वाध्याय,
२. कल्पना-शक्ति,
३. शब्द-सामर्थ्य,
४. मानव-स्वभाव-अध्ययन,
५. यथातथ्य-ग्राह (Grip on Fundamentals)
६. कला-सौष्ठव,
७. स्थिति-सृजन-शक्ति (Power to create situation)
८. जीवन-चित्रण-सामर्थ्य,
९. समाधि-सामर्थ्य (Power of meditation)
१०. आर्जव-ईमानदरी (Honesty)

जिस साहित्यकार में ये गुण होंगे उसकी कृतियों में वे स्वभावतः ही झलक उठेंगे। निवेदन यह है कि साहित्यिक कृतियों की आलोचना करते समय हमें इन मानदण्डों के आश्रय से चलना चाहिए। साथ ही हमें यह भी न भूलना चाहिए कि प्रत्येक देश की कुछ विचार-विशेषताएँ होती हैं। उनको ध्यान में रखे बिना, उस देश के साहित्य, उस देश की कला, आदि के सम्बन्ध में यदि मत-प्रदर्शन किया जाय तो वह एक अशुद्ध बात होगी। किसी देश के साहित्य की आलोचना उस देश के गुण-विशेष की ओर दृक्पात किये बिना की ही नहीं जा सकती। एक देश की साहित्यिक कृतियों पर मनमाने, अधकचरे, उच्छिष्ट आलोचना-सिद्धान्तों को आरोपित करना उपहासास्पद है। स्वयं मार्क्सवादी दार्शनिक देश-विशेष की राष्ट्रीय विशेषताओं को स्वीकार कर चुके हैं।

महामहिम स्तालिन ने भाषा-शास्त्र-समस्या और राष्ट्रीय प्रश्न पर अपने विचार व्यक्त करते हुए एक स्थान पर कहा है—

Every nation, whether large or small, has its own qualitative peculiarities, its specific features which belong to it alone and are not found in other nations. These peculiarities are the contribution which every nation makes to the common treasury of world Culture, supplementing and enriching it

इसका अर्थ है: प्रत्येक छोटे या बडे राष्ट्र की अपनी निज की गुणात्मक विशेषताएँ होती हैं। उसके अपने विशिष्ट लक्षण होते हैं। ये विशेषताएँ उसी राष्ट्र की अपनी स्वयं की होती हैं और अन्य देशों में ये नहीं पाई जातीं। ये विशेषताएँ वह अंशदान है जो प्रत्येक राष्ट्र विश्व संस्कृति के सार्वलौकिक कोष में (अपने भाग के रूप मे) देता है और इस प्रकार प्रत्येक राष्ट्र उस संस्कृति-कोष को परिवर्द्धित एवं समृद्ध करता है।"

इसका स्पष्ट संकेत इस बात की ओर है कि किसी देश की सांस्कृतिक साहित्यिक कृतियों का मूल्यांकन, बिना उस देश की विशेषताओ को ध्यान मे रखे, किया नहीं जाना चाहिए। और भारतीय साहित्यिक कृतियो के मूल्यांकन के समय यदि हम अपने देश की—स्तालिन के शब्दों मे—गुणात्मक विशेषताओं को सम्मुख नहीं रखेंगे तो हमारा आलोचना-प्रयास एकांगी अथवा अवैज्ञानिक एवं असत् होगा।

हमें देखना यह है कि हमारे देश की गुणात्मक विशेषता क्या है ? मैं स्तालिन महोदय की 'गुणात्मक' विशेषता की शब्दावली के पीछे नही पडना चाहता। इसलिए मैं इसी प्रश्न को यों रखूँगा कि हमारे राष्ट्र की आत्मा क्या है ? किस ओर उसका झुकाव रहा है, और है ? हमारे राष्ट्र का लक्ष्य क्या है ? कहाँ उसकी दृष्टि है ? किस ओर वह अपने ध्यान, अपनी कल्पना, अपने विचार का शर-सन्धान करता है ? उसने किस विचार या वस्तु को अपने जीवन की परम प्राप्तव्य(Summun Bonum)और परम पुरुषार्थ माना है ? यदि इन प्रश्नो की ओर हम देखें और उन पर विचार करें तो हमें अपने राष्ट्र की गुणात्मक क्या, गुणातीत विशेषता का पता चलेगा। आइए, हम इस ओर अपना ध्यान केन्द्रित करें।

भारत की जो आत्मा है, वही भारतीय साहित्य की आत्मा है—आर्थिक-सामाजिक विषमता, खाने-पीने विषयक अनेकता, राजनीतिक एकाधिपत्य-अभाव, आदि के रहते हुए भी हमारा यह भारतवर्ष जो 'शुभ्र तुषार

[illegible] ... है—[illegible] ... [illegible]
[illegible] ... [illegible]
[illegible] ... [illegible]
[illegible] ... [illegible]
[illegible] ... [illegible]
[illegible] ... [illegible]
अन्वित करके इस [illegible] ... [illegible]
है, वह [illegible] ... [illegible]

यदि हम इस पर विचार करें तो [illegible] प्रतीत होगा कि इस देश को आस्तिकता प्रदान करने वाली वह [illegible] है जिससे प्रेरित होकर नासदीय सूक्त के ऋषि की वाणी मुखर हो उठी थी—[illegible]··· यह शाश्वत ऊह-भाव, यह [illegible], यह टेर—[illegible]··· यह टेर मेरी··· यह छटपटी, यह लगन, यह [illegible]—यही है जो भारत की आत्मा को अनुसन्धानरत किये हुए है। इसी प्रेरणा ने हमारे देश के वाङ्मय को गुञ्जार प्रदान किया है। [illegible], [illegible], बन्धन-मोक्ष—यही इस देश की विशेषता है।

उपनिषद-काल, आदि काव्य-काल, महाकाव्य-काल, पुराण-काल, सन्तकाल, वर्तमान काल—सब कालों के वांग्मय में यह प्रेरणा दृग्गोचर होती है। उपनिषद् का ऋषि कह उठता है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः
न मेधया, न बहुनाश्रुतेन,
यमेवैष वृणुते, तेन लभ्यः।

और कठोपनिषत्कार का नचिकेता भी इसी आत्मोपलब्धि, [illegible] अस्तित्व की गुत्थी सुलझाना चाहता है। वह अपने गुरु यम से पूछता है

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये
अस्तीत्येके नायमस्तीतिचैके,
एतद्विद्याम् अनुशिष्टः त्वयाहं
वराणामेष वरस्तृतीयः।

"मनुष्य के मरने पर (मनुष्य प्रेते) यह जो संशय [illegible] है कि कुछ कहते हैं कि वह है (एके अस्तिइति) और [illegible] नहीं है [कि एके (आहुः) अयम न अस्ति इति]। [illegible] होकर (त्वया अनुशिष्टः) इस तत्त्व को जानना चा[illegible]

यमराज टालना चाहते हैं; चमकदार खिलौनों का लालच देकर नचिकेता को बहलाना, फुसलाना चाहते हैं।

अन्यं वर नचिकेतो वृणीष्व,
मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम्।

"नचिकेता, अन्य वर मांग (नचिकेतः अन्यम् वृणीष्व) मुझसे (मा) मत कर प्रार्थना (इसके लिए) (मा उपरोत्सीः)। मुझे इस (वर के दान) से तू मुक्त कर दे (मा एनम् अति सृज)। इसके आगे भी वे जाते हैं। यमराज नवयुवक नचिकेता को मनमोहक वरदान देने की बात कहते हैं। वे कहने लगे—

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके,
सर्वान् कामाश्छन्दतः प्रार्थयस्व,
इमा रामाः सरथाः सतूर्याः
न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः।
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व
नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः।

"मर्त्यलोक में जो-जो भी इच्छा-विषय दुर्लभ है (मर्त्यलोके ये ये कामाः दुर्लभाः) (उन) सब इच्छा विषयों को तू अपने चयनानुसार माँग सर्वान् कामान् छन्दतः प्रार्थयस्व)। ये रथारोहिणी, वाद्यधारिणी सुन्दरियाँ हैं (इमा सरथाः सतूर्याः रामाः), इनके सदृश सुन्दरियाँ मनुष्यों द्वारा लभ्यनीय (प्राप्य) हैं ही नहीं (ईदृशाः रामाः मनुष्यैः नहि लम्भनीयाः)। मुझ द्वारा प्रदत्त इन (सुन्दरियों) द्वारा तू परिचारित, सेवित, हो (मत्प्रत्ताभिः आभिः रामाभिः परिचारयस्व)। हे नचिकेता, मरण के विषय में फिर मत पूछ (नचिकेतः मरणं मा अनुप्राक्षीः)।

पर नचिकेता दृढ़ है। वह आचार्य यम से विनम्रतापूर्वक, किन्तु दृढ़ता से कहता है—

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः
× × ×
नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते।

"मनुष्य वित्त (धन) से तृप्त नहीं होता (मनुष्य. वित्तेन न तर्पणीयः), इसलिए नचिकेता इस वर से अन्य वर का वरण नहीं करता (नचिकेता तस्मात् अन्यं न वृणीते)।

इस भव्य, उदात्त, हृदय-मन्थनकारी सम्भाषण का क्या अर्थ है ? अर्थ केवल यह है कि अन्तर पट के पार झाँकने की प्रेरणा, अवगुण्ठन को खोलने की

प्रणोदना, भारतीय आत्म-अनुसन्धान के रूप मे, सहस्त्राब्दियों से हमारे देश के आँगन मे मचलती, खेलती, दौडती, ठहरती, विहँसती, रोती और रुलाती रही है। राज-दरबार में, मनोरंजन के लिए लिखे गए, साहित्य में भी यह हूक बराबर उठ-उठ आती रही है। राम के "तेहिनो दिवसागताः" और कालिदास के "वर्षा लोके भवति सुखिनां प्यन्नथा वृत्तिचेतः" में वही हूक है, वही पर-पार की सुध पाने की आतुरतामयी असन्तुष्टि है। आज यदि भारतीय साहित्य में और हिन्दी-साहित्य में यह परम श्लाघ्य, चरम उन्नति-प्रेरणा-दायिनी, नर-नारायण कारिणी प्रेरणा प्रतिबिम्बित होती है तो पदार्थवादी आलोचक क्यों रूठें ? क्यों नाराज़ हों ? क्यों नाक-भौं सिकोड़ें ? यह उनके देश की थाती है। उन्हें तो इस बात पर गर्व करना चाहिए कि भारत की स्वप्नोत्थित जागरूक आत्मा ने, युगों के प्रवाह मे डूब-उतर कर भी, अपने स्व-धर्म को, स्व-भाव को, स्व-लक्ष्य को तिरोहित नहीं होने दिया।

हाँ, पर प्रश्न पूछा जा सकता है कि अन्ततः भारतीय आत्मा की इस शाश्वत टोह प्रेरणा को ऐसा विशेष रूप क्यों दिया जाय। ज्ञान-पिपासा के रूप में, प्रकृति-रहस्योद्घाटन की बलवती आकांक्षा के रूप में, पाँच मील गहरे समुद्र में पैठने और पाँच मील ऊपर तुङ्ग गिरि शिखर पर चढ़ने के प्रयत्नों के रूप में यह प्रेरणा तो संसार-भर में व्याप्त है। इसमें हमारी ही क्या विशेषता है ? वही तत्त्व-दर्शन की, अनदेखे की अभिलाषा अन्यत्र भी तो विद्यमान है ? हाँ, ज्ञानेच्छा तो सर्वत्र है। बिना इस जिज्ञासा-भाव के मानव एक डग भी आगे नहीं बढ़ सकता। पर,...पर...

इस प्रकार की बात कहने वाले मित्र यदि इस प्रश्न पर किंचित् और गम्भीरता से विचार करेंगे तो उन्हें इस और उस प्रेरणा का अन्तर स्पष्ट हो जायगा। वर्तमान विज्ञान-जिज्ञासा और भारतीय परम्परा की जिज्ञासा में जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अन्तर है वह यह है कि वर्तमान जिज्ञासा-भावना बहिर्मुखी है और भारतीय परम्परा की जिज्ञासा-भावना अन्तर्मुखी है। यह केवल मात्र परिमाण-अन्तर है (Qualitative Difference) है, सो बात नहीं है। यह विशुद्ध गुणात्मक अन्तर (Quantitative Difference) है। हमारा मानस, हमारा इतिहास, हमारी संस्कृति हमारे वैदिक जैन बौद्ध विचार, सब-कुछ अन्तर्मुखी एवं अन्तर्दर्शन के अभ्यासी हैं। इसलिए विज्ञान सम्बन्धी जिज्ञासा और भारतीय जिज्ञासा की परम्परा को एक कोष्ठक में बन्द नहीं किया जा सकता।

और, मानव भी ऐसा प्राणी है कि वह किसी तीतरफन्द या कबूतर

खाने में फँसाया अथवा बन्द नहीं किया जा सकता। मैं पहले ही यह कह चुका हूँ कि चेतना को केवलमात्र एक आनुषंगिक घटना (Epi-Phenomenon) या भौतिक द्विविषय मान लेना बड़ी भारी भूल होगी। मानव केवल भौतिक उफान की सनसनाहट मात्र ही नहीं है। वह इसके अतिरिक्त भी और कुछ है। हमारे साहित्य-मनीषियों और तत्त्वदर्शियों ने मानव को जो परमात्म-अंश के रूप में माना है, वह कोई यों ही उन्माद-प्रलाप मात्र नहीं है। इस मान्यता के पीछे जो सन्तत कर्म-भावना है, वह इस मानव को उसके परम पद तक पहुंचाने मे सहायक बने रहने के विचार से है।

इस मानव को मुक्ति का सन्देश देना और इसे—अर्थात अपने को भी—बन्धन पाश से छुड़ाने का सन्तत प्रयत्न करते जाना, यही भारतीय-साहित्य का चरम, अन्तिम, परम उद्देश्य है। भारतीय साहित्य में यह अन्तर्हित विचारधारा—यह प्रयत्नशीलता—आपको निरन्तर बहती हुई मिलेगी। अपने को, स्वयं को— अपने मानव को— सुसंस्कृत करने का प्रयत्न ही भारतीय-साहित्य का—हिन्दी-साहित्य का—ध्येय रहा है, और है।

पर प्रश्न उठता है कि संस्कृति क्या है? इसका उत्तर भिन्न-भिन्न लोगों ने भिन्न-भिन्न रूप से दिया है। कोई दर्जी-निर्मित संस्कृति मे विश्वास करता है, कोई लुहार-निर्मित संस्कृति में, कोई सुनार-निर्मित संस्कृति में और कोई उद्योग रासायनिक (Industrial Chemist) निर्मित संस्कृति में। दर्जी की काट से नापी गई संस्कृति प्रायः धोखा देती है। लुहार-निर्मित अर्थात् औद्योगिक संस्कृति भी संकटकारिणी, यहाँ तक कि मानवता-संहार-कारिणी, सिद्ध हो रही है। सुनार-निर्मित टकसाली संस्कृति ने हमारे सामने सञ्चय-लोभ-लोभ के राक्षस को खड़ा कर दिया है। और जो रासायनिक संस्कृति की बात मैंने कही वह इसलिए कि एक विचारक ने यह प्रतिपादन किया था कि संस्कृति का मानदण्ड कारबोलिक एसिड है; जितनी अधिक मात्रा में किसी समाज में वह खर्च होगी, जितना अधिक उसका उपयोग होगा, उतने अधिक अंश में वह समाज संस्कृत समझा जायगा। बाह्य शौच, स्वच्छता के लिए निःसन्देह कारबोलिक एसिड आवश्यक है। पर कारबोलिक एसिड को संस्कृति का मानदण्ड मानना केवल बहिर्मुखी वृत्ति का ही परिचायक है। और वास्तव में तो बात यह है कि रासायनिक निर्मित संस्कृति गैस-युद्ध-कला के रूप मे मानवता के लिए संकट रूप सिद्ध हो रही है।

तब संस्कृति क्या है? मेरी मति के अनुसार संस्कृति गान्धी है, संस्कृति विनोबा है, संस्कृति कबीर, तुलसी, सूर, ज्ञानदेव, समर्थ तुकाराम है,

संस्कृति अणु-व्रत-प्रचारक जैन मुनि आचार्य तुलसी है। संस्कृति रमण महर्षि है। आप हँसेंगे। पर हँसने की बात नहीं है। संस्कृति है आत्म-विजय, संस्कृति है राग-वशीकरण, संस्कृति है भाव उदात्तीकरण। जो साहित्य मानव को इस ओर ले जाय, वही सत् साहित्य है।

—बालकृष्ण शर्मा

४, विण्डसर प्लेस,
नई दिल्ली...
७ सितम्बर, १९५२

सूची

कब मिलेंगे ध्रुव चरण वे ?

चलित चरणों की जगह अब कब मिलेंगे ध्रुव चरण वे ?
युग-युगान्तर के समाश्रय, वे अडिग, अशरण-शरण वे ?
कब मिलेंगे ध्रुव चरण वे ?

१

इधर देखा, उधर झाँका, मिल गए कुछ चपल लोचन,
मैं समझ बैठा कि मुझको मिल गए संकट-विमोचन,
किन्तु करता हूँ विगत का आज जब सिंहावलोकन,
देखता हूँ तब अनस्थिर भावना के आचरण ये;
कब मिलेंगे ध्रुव चरण वे ?

२

प्राण के उच्छ्वास में मैं खींच लाया शूल कितने ?
और इस निःश्वास में उड-उड गए हैं फूल कितने ?
दान में स्मृति-रूप कटक मिल गए हैं आज इतने —
कि उन सुमनों के हुए हैं शूल ही नव संस्करण ये;
कब मिलेंगे ध्रुव चरण वे ?

३

नेत्र विस्फारित किए, जल, थल, असीमाकाश में नित —
फिर रहा हूँ खोजता कुछ वस्तु मैं व्याकुल, प्रवचित;

भाल-रेखा पर हुई है चिर विफलता-छाप अंकित;
विकल अन्वेपण-सुरति को कब करेंगे पिय वरण वे ?
कब मिलेंगे ध्रुव चरण वे ?

४

दीप लघु मैं, तव अलख कर से समय-नद में प्रवाहित,—
नित्य-प्रति प्रतिकूलता के प्रबल झोंकों से प्रताड़ित,—
टिमटिमाता वह रहा हूँ मैं जनम का ही निराश्रित !
दीप-सम्पुट कब बनेंगी कर-अँगुलियाँ मन-हरण वे ?
कब मिलेंगे ध्रुव चरण वे ?

५

कौन जाने यह विकम्पित दीप तुमने कब बहाया ?
क्या पता, तुमने इसे फिर, कब बुझाया, कब जगाया ?
है पता इतना कि इसने आज तक आश्रय न पाया,
हैं बहाए जा रहे इसको प्रवाही उपकरण ये;
कब मिलेंगे ध्रुव चरण वे ?

६

काँप रही है ज्योति; अब तो तुम इसे कर दो अनिङ्गित;
तव निवातस्थान में अब लौ लगे इसकी अशङ्कित;
सजन ज्योतिर्मय, करो निज पुञ्ज में इसको सुसंचित;
थाम दो अब तो तनिक इसके अवश-से सन्तरण ये;
कब मिलेंगे ध्रुव चरण वे ?

श्री गणेश-कुटीर, प्रताप
कानपुर, मई १९३६

लिख विरह के गान

लिख विरह के गान, रे कवि, लिख विरह के गान,
अमित खिलने दे अधर पर दुख-भरी मुसकान,
रे कवि, लिख विरह के गान।

१

इस झड़ी में बढ गई है शून्यता मम हिय विकल की,
असहनीया हो गई हैं सतत धारें मेघ-जल की;
किन्तु कब उनने सुनी है प्रार्थना आतुर निबल की?
तू लगा मम वेदना का आज कुछ अनुमान,
रे कवि, लिख विरह के गान।

२

व्योम में यह ढूँढता-सा फिर रहा निशिनाथ उनको,
मेघ-तरियाँ गगन-सर में खोजती हैं उस निपुण को;
कवि, सदेही, सगुण कर दे तू सनेही चिर निगुण को,
शून्य में कर शब्द-भेधी-मन्त्र-शर-सन्धान,
रे कवि, लिख विरह के गान।

३

नित्य निर्गुण चित्रपट में सगुणता की रेख भरना,
है यही पुरुषार्थ नर का : अलख का अभिषेक करना;

अतल से कुछ खींच लाना, शून्य में साश्रय विचरना —
यदि न यह सम्भाव्य हो तो क्यों न तड़पें प्राण ?
रे कवि, लिख विरह के गान।

४

नेह, मानस-जात मेरा, यह चला अब मूर्त्त होने,
मचल उट्ठा आज है यह निज स्वरूप अमूर्त्त खोने;
तड़पता है आधिभौतिक भाव में संस्फूर्त्त होने.
आत्मरूपाधार को वह खोजता अनजान,
रे कवि, लिख विरह के गान।

५

प्राणप्रिय के रूठने की क्यों मिली है सूचना यह ?
हो गई क्यों आज उनकी हिय-दशा यों उन्मना यह ?
नेह-दानी की विरति की हो रही क्यों व्यञ्जना यह ?
शिथिल, दीना पड़ गई क्यों मम अतृप्त उड़ान ?
रे कवि, लिख विरह के गान।

६

तप्त प्राणों ने निरन्तर कौन-सी विपदा न झेली ?
किन्तु उलझी ही रही फिर भी अभी तक यह पहेली;
सतत अन्वेषण-क्रिया है बन गई जीवन-सहेली;
आह ! क्या यों ही पड़े रह जायँगे अरमान ?
रे कवि, लिख विरह के गान।

७

आम्र-वन के सघन झुरमुट से पपीहे ने पुकारा :
'पी कहाँ ?' मैंने तड़पकर शून्य दिङ्मण्डल निहारा,
पी कहाँ ! प्यासे दृगों का है कहाँ दर्शन-सहारा ?

क्यों नहीं पहुँचा वहाँ तक निरत मेरा ध्यान ?
रे कवि, लिख विरह के गान ।

८

आज इस धूमिल घड़ी में कौन यह सन्देश लाया :
साँझ आई, किन्तु उनका राज-रथ अब तक न आया !
ढीठ मन यह पूछता है : क्यों उन्हें अब तक न पाया ?
क्या बताऊँ क्यों नहीं आए सजन रसखान ?
रे कवि, लिख विरह के गान ।

प्रिय, जीवन-नद अपार

प्रिय, जीवन-नद अपार,
विशद पाट, तीव्र धार, गहर भँवर, दूर पार,—
प्रिय, जीवन-नद अपार।

१

इस तट पर ना जाने कब से रम रहे प्राण,
ना जाने कितने युग बीत चुके शून्य मान,
पर, अब की उस तट से आई है वेणु-तान,
खींच रही प्राणों को बरबस ही बार-बार ?
प्रिय, जीवन-नद अपार।

२

किस विधि नद करूँ तरित ? पहुँचूँ उस पार, सजन ?
कच्चा घट, जल-संकट, लहर, भँवर, तीव्र व्यजन;
भय है, गल जायेगा यह मम तरणोपकरण,
दुस्तर-सी लगती है जीवन की तीव्र धार;
प्रिय, जीवन-नद अपार।

३

यदि वाहित करना था जीवन-नद वेग-युक्त,—
तो यह रज-भाजन भी कर देते अग्नि-भुक्त;

पर यह तो कच्चा है, हे मेरे वन्ध मुक्त,
हैं इसमें छिद्र कई, और अनेकों विकार;
प्रिय, जीवन-नद अपार ।

४

पहले इसके कि करो सजन वेणु-वादन तुम,—
पहले इसके कि करो स्वर का आराधन तुम,—
भेज अग्नि-पुञ्ज, करो पक्का रज-भाजन तुम,
छूट जाय जिससे यह तरण-मरण-भीति-रार;
प्रिय, जीवन-नद अपार ।

श्री गणेश-कुटीर,
कानपुर
दिनाङ्क १०-६-१६३६
(अग्नि-दीक्षा काल)

विदेह

१

चल, उतार अँग-वस्तर, आली, तू क्षण-भर में होगी पियमय,
अब कैसा दुराव साजन से? पूर्ण हुआ तेरा क्रय-विक्रय;

२

तुझको लेने आ पहुँचे हैं, रथ पर चढ़कर मनहर साजन,
कुछ-कुछ उनकी कुछ-कुछ तेरी आज हुई है स्वप्निल जय-जय;

३

नतलोचने, हृदय की नीवी खोल, नयन में सहज भाव भर,
दिखला दे अपने पीतम को जनम-जनम का अपना निश्चय;

४

कितने वे उपवास पियासे, कितने निराहार व्रत, संयम,
आज सफल हो गए अचानक, भागे सब भव-रव-भय-संशय;

५

अवश दूर ही करना होगा यह अन्तरपट, यह आच्छादन,
आत्म-रमण की तन्मयता में क्या सचैल परिरम्भण परिणय?

६

यह पल्ला, यह पट, यह अञ्चल भारभूत हो जाएँगे सब,
अरी! तनिक आने तो दे तू उनकी मादक मुरली की लय!

क्वासि

७

आज वक्ष, माथे, कटि, उर पर है चीनांशुक तरल लाजमय,
नेह सफल तब जान सलौनी! जब हो जाए इस पट का लय;

८

पट ही क्या? कंचन काया भी मचलेगी निर्देह-भाव से,
उस दिन जब उनके सुपरस से होंगे रोम कंटकित, गतिमय;

९

चल उतार, अँग-बस्तर आली, तू क्षण-भर मे होगी पियमय,
अब कैसा दुराव साजन से? पूर्ण हुआ तेरा क्रय-विक्रय;

श्री गणेश कुटीर
प्रताप कानपुर
दिनाङ्क १०-६-१९२६
अपराह्न

चेतन-वीणा

प्रियतम, मम रोम-रोम, रन्ध्र-रन्ध्र स्वनित आज,
मेरी चेतन-वीणा है गुञ्जित, क्वणित आज
रन्ध्र-रन्ध्र स्वनित आज ।

१

सहसा मिल गए आज मेरे सब तर-तार,
गूँजी झंकार, मधुर उमँगी मधु गान-धार;
आज पूर्ण हुआ, प्राण, जीवन का स्वर-सिगार,
आरोहण, अवरोहण, श्रुति, लय, सब ध्वनित आज ।
रोम-रोम स्वनित आज ।

२

वीणा के ककुभ[1] बने ये वर्तुल देश-काल,
मेरा अस्तित्व बना इसका रसमय प्रवाल[2] ।
प्रतिक्षण हिय का स्पन्दन देता है नियत ताल,
अनिल, अनल, जल, थल, वन झलक उठे स्वर-समाज ।
रोम-रोम स्वनित आज ।

---

१. वीणा की तूँबी, एक ऊपर, एक नीचे

२ वीणा-दण्ड

३

गूँजी चेतन-वीणा, प्रकृति-नटी नाच उठी;
सूने दिक्-काल झुके; सिरजन की आँच उठी,
अपनी इतिहास-कथा सकल सृष्टि लाँच उठी
अणु-अणु में, किरणों में रहे मधुर स्वर विराज।
रोम-रोम स्वनित आज।

केन्द्रीय कारागार, बरेली
दिनाङ्क २२-१-१९४४

हम नूतन पिय पाए

हम नूतन पिय पाए, री सखि, हम नूतन पिय पाए;
इस वसन्त ऋतु में सु पुरातन, नवल वेश धर आए;
री सखि, हम नूतन पिय पाए।

१

माघ-मेघ-सम संशय-घन-गन मन-गगनाङ्गन डोले,
भय भरते, दुख-गाज गिराते, घुमड़े हौले - हौले;
छुप वैठे थे घनावरण में पीतम चन्दा भोले;
किन्तु आज उनने निज कर से घन-आवरण हटाए;
री सखि, हम नूतन पिय पाए।

२

मेघ हटे, चमका गगनाङ्गन, विहँसे सजन सुहाने,
लगन-चकोर-पङ्ख से गूँजे सन-सन मिलन तराने;
मौन हमारे नैश-देश में उमड़े स्वर रस-साने;
क्या वतलाएँ कैसे हमने आपुन सजन रिझाए;
री सखि, हम नूतन पिय पाए।

३

हम जो सदा ताकते रहते है नित अम्बर सूना—
हम जो सदा चाहते रहते हैं छाया ो छूना—

आज धन्य है, देख चमकता विजित भाग दिन दूना;
ओढ़ वसन्ती उत्तरीय पिय आँगन में मुसकाए;
री सखि, हम नूतन पिय पाए।

४

हम जाने हैं : परम तापसी हमरे सजन सुजाना,
हम जाने हैं : परम निरिन्द्रिय हमरे ये मेहमाना;
पर, हमने अपनी सेन्द्रियता को सार्थक ही जाना;
जोकि आज इन उपकरणों से हमने पिय-गुण गाए,
री सखि, हम नूतन पिय पाए।

रेल-पथ
लखनऊ—कानपुर
दिनाङ्क १७-२-४०

कलिका इक बबूल पर फूली

कलिका इस बबूल पर फूली;
इसकी इस कण्टकित डाल पर वह मन-हरनी भूली;
कलिका इस बबूल पर फूली।

१

इस विकराल, अनुर्वर, ऊसर, अरस काल-प्रान्तर में,
इक बबूल यह उग आया है, भरे शूल अन्तर में;
कण्टक-ही-कण्टक झरते हैं इसकी हहर-हहर मे;
अरे, सुरम्या, सुरभित मधु-ऋतु इस पर कब अनुकूली?
कलिका इस बबूल पर फूली।

२

कब आई इसकी छाया में शीतलता सुकुमारी?
किसने इसकी इस छाया में चिर-विश्रान्ति निहारी?
इस पर तो कण्टक ही जाते रहते है बलिहारी;
मिले उसे कण्टक ही, जिसने इसकी डाली छू ली;
कलिका ऐसे तरु पर फूली।

३

खड़ा हुआ है; मूल बद्ध है; इस जग में यह अग है;
यों यह सोया-सा लगता है; पर यह बहुत सजग है;

पग-विहीन है; पंख-हीन है; गति युत यह न उरग है;
इस तक कभी न आई जग की गति, पथ भूली-भूली।
कलिका ऐसे तरु पर फूली।

४

खड़ा हुआ था यह; इतने में सुषमा एक पधारी,
औं' कह उठी कि आई तेरी अब खिलने की बारी;
यह बोला : मैं ? मैं बबूल हूँ; मुझसे कैसी यारी ?
वह बोली : मै बनी अपर्णा, यदि तू है चिरशूली ;
कलिका यों कह इस पर फूली।

५

आओ, जग के चतुर चितेरो. अवलोको यह क्रीडा;
यह इसका सौभाग्य निहारो; निरखो इसकी व्रीडा;
आओ, चित्रित करो तनिक यह इसकी सौरभ-पीडा;
अरे, सम्हालो कम्पित कर से अपनी-अपनी तूली,
कलिका इस बबूल पर फूली।

६

इसकी इस प्रियतमा कली का यह अनुराग निहारो,
इसकी आसावरी प्रिया का स्वरित विहाग निहारो;
इसके काँटों में अनुरजित सुमन - पराग निहारो;
टुक देखो तो इस मीराँ की सेज बनी यह सूली,
कलिका इन शूलों में फूली।

जिला जेल उन्नाव
दिनाङ्क १० दिसम्बर १९४२

मेरे मधुमय स्वप्न रँगीले

बन - बनकर मिट गए अनेकों मेरे मधुमय स्वप्न रँगीले,
भर - भरकर फिर - फिर सूखे हैं मेरे लोचन गीले - गीले;

१

मेरा क्या कौशल? क्या मेरी चंचल तूली? क्या मेरे रँग?
क्या मेरी कल्पना-हंसिनी? मेरी क्या रस-रास-रति उमँग?
मैं कब का रँग-रूप चितेरा? मैं कब विचर सका खग-कुल सँग?
मम स्वप्नों के चित्र स्वयं ही बने, स्वयं ही मिटे हठीले;
भर - भरकर फिर - फिर सूखे हैं ये मेरे रँग - पात्र रँगीले।

२

मेरे स्वप्न विलीन हुए हैं; किन्तु, शेप है परछाँईं-सी;
मिटने को तो मिटे, किन्तु वे छोड गए हैं इक झाँईं-सी;
उस झिल-मिल-सी स्मृति-रेखा से हैं ये आँखें अकुलाईं-सी;
उसी रेख से बन उठते हैं फिर-फिर नवल चित्र चमकीले;
बन - बनकर मिट गए अनेकों मेरे सपने गीले-गीले।

३

कलाकार कब का मैं, प्रियतम, कब मैंने तूलिका चलाई?
मैंने कब यत्नतः कला के मन्दिर में वर्त्तिका जलाई?
यों ही कभी काँप उट्ठी है मेरी अँगुली और कलाई;

यों ही कभी हुए है कुछ-कुछ रसमय कुछ पाहन अरसीले;
बन-बनकर मिट गए अनेकों मेरे मधुमय स्वप्न रँगीले।

४

मैंने कब सजीवता फूँकी जग के कठिन शैल-पाहन में?
मैं कर पाया प्राण-स्फुरण कब अपने अभिव्यञ्जन-वाहन[1] में?
मुझे कब मिले सुन्दर मुक्ता भावार्णव के अवगाहन में?
यदा-कदा हैं मिले मुझे तो तुम-जैसे कुछ अतिथि लजीले।
यों ही बन - बनकर बिगड़े है मेरे मधुमय स्वप्न रँगीले।

श्री गणेश-कुटीर, कानपुर,
दिनाङ्क २ मई, १९४८

---

१ शब्द

मेघ-आगमन

आए मेघ घने; सजन, ये आए मेघ घने;
आज श्याम-चादर के चँदुए अम्बर बीच तने;
सजन, ये आए मेघ घने।

१

अब मत छिटको दूर, प्राण-धन;
देखो, होता है घन-गर्जन;
हुलसा है जगती का कण-कण;
वसुधा देख रही हैं छिन-छिन, नवल-नवल सपने,
सजन, ये आए मेघ घने।

२

कहाँ-कहाँ की सुध-बुध सारी—
हिय बिच जागी बारी-बारी;
आओ तुम मम गगन-विहारी;
गर्जन के तर्जन से उन्मन हुए प्राण अपने;
सजन, ये आए मेघ घने।

३

चमकी असि-सी कुटिला चपला,
तड़पी हिय-रति नित अचञ्चला;

उमड़ बही दृग-धारा विकला;
अब विलम्ब क्यों ? हँस मुसकाते, आओ हिय लगने,
सजन, ये आए मेघ घने।

४

इतने ये आवरण तुम्हारे—
हमसे नहीं हटेंगे प्यारे;
अपनी माया आप सँवारे,—
घन-अवगुण्ठन के भीतर से, झाँको नेह-सने,
सजन, ये आए मेघ घने।

श्री गणेश-कुटीर,
प्रताप, कानपुर
दिनाङ्क २६-६-२६

बज उठा आनद्ध लय का !

बज उठा आनद्ध[1] लय का; मन्द्र ध्वनि गूँजी गगन में,
गमन का सन्देश सहसा हो उठा सस्फूर्त्त मन में !
मन्द्र ध्वनि गूँजी गगन में !

१

आज पहुँचा है कहीं से निष्क्रमण का यह सँदेशा;
मोह कैसा ? छोह कैसा ? गुप्त पथ का क्या अँदेशा ?
तम नहीं है पन्थ में; है मृत्यु तो चिर वह्नि-वेशा !
मत डरो, ओ चिरप्रवासी; तम हटेगा एक क्षण में !
मन्द्र ध्वनि गूँजी गगन में।

२

डाल श्यामल केश मुख पर, और चादर ओढ काली,
यह पधारी मृत्यु रानी छद्म भूषा-वेश वाली,
है नहीं यह असित; समझो मत इसे काली-कराली;
अमरता लाई छिपाकर यह मरण के आवरण में !
मन्द्र ध्वनि गूँजी गगन में।

---

१ ढोल या मृदंग

६

निज तिरस्करिणी[२] लपेटे, अभय चल दो आज जग से,
अब, अपार्थिव रूप देखो, मूर्त्त से होकर विलग-से;
कई पूर्व समान-धर्म्मा जा चुके है इसी मग से;
नित्य जाते हैं इसी पथ, जो पधारे जग-सदन में।
मन्द्र ध्वनि गूँजी गगन में।

४

मनुज जीवन में रहे जो स्वर विवादी और अनमिल,
उन्हें तन्त्रीमय बनाने आ गई है मृत्यु झिल-मिल;
स्वनित लयमय, ताल-झंकृत, क्यों न अभिनव स्वन उठें खिल?
आज लहरें तव अमर स्वर मृत्यु-तौर्यत्रिक[३] क्वणन में।
मन्द्र ध्वनि गूँजी गगन में।

केन्द्रीय कारागार बरेली
दिनाङ्क १६ जनवरी, १९४४

---

२ अदृश्यकारी आवरण
३ गान-वाद्य-नृत्य साम्य

यह विराग-विवाद क्यों ?

राग में ही तो मनुज के सुप्त, विजड़ित भाव जागे ;
अब विराग-विवाद क्यों, जब आ गया अनुराग आगे ?

१

राग-रंजन ने दृगों में भर दिया अनमोल अंजन,
हो गए जिससे चमत्कृत सित-असित ये नयन-खंजन;
राग से संलग्न होकर खिल उठा भावाभिव्यंजन;
प्राण में है राग-रति, तब राग से क्यों मनुज भागे ?
राग में ही तो मनुज के सुप्त, विजड़ित भाव जागे !

२

बज उठे जब बाँसुरी, तब वैर क्यों हो स्वर-लहर से ?
उपकरण-परिधान पहना तब विरति क्यों चर-अचर से ?
आ पडे जब सृजन-नद में, तब झिझक कैसी भँवर से ?
इन्द्रियाँ पाकर बनें क्यों अति निरिन्द्रिय हम अभागे ?
राग में ही तो मनुज के सुप्त, विजड़ित भाव जागे !

३

मानवों की मुक्ति है इस राग औ' अनुराग में ही,
छुट सकें क्यों राग, जब वे आ पडे हैं भाग में ही ?

क्वासि

ध्यान बस इतना रहे : हो ऊर्ध्व-गामी मनुज देही ;
मनुज के वश रस रहें, सुलझे रहें सब तार-तागे ।
राग में ही मनुज के सब सुप्त, विजड़ित भाव जागे !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
दिनाङ्क १२ सितम्बर १६४४

प्राणों के पाहुन

प्राणों के पाहुन आए औ' चले गए इक क्षण में;
हम उनकी परछाँई ही से छले गए इक क्षण में।

१

कुछ गीला-सा, कुछ सीला-सा अतिथि-भवन जर्जर-सा,
आँगन में पतझर के सूखे पत्तों का मर्मर-सा,
आतिथेय के रुद्ध कण्ठ में स्वागत का घर्घर-सा,
यह स्थिति लखकर अकुलाहट हो क्यों न अतिथि के मन में?
प्राणों के पाहुन आए औ' लौट चले इक क्षण में।

२

शून्य अतिथिशाला यह हमने रच-पच क्यों न बनाई?
जग को अपनी शिल्प-चातुरी हमने क्यों न जनाई?
उनके चरणागमन-स्मरण में हमने उमर गमाई;
अर्घ्य-दान कर कीच मचा दी हमने अतिथि-सदन में;
प्राणों के पाहुन आए औ' लौट पडे इक क्षण में।

३

वे यदि रंच पूछते : क्यों है अतिथि-कक्ष यह सीला?
वे यदि तनिक पूछते : क्यों है स्फुरित वक्ष यह गीला?

तो हो जाता ज्ञात उन्हें : है यह उनकी ही लीला;
है पंकिलता आज हमारी माटी के कण-कण में,
प्राणों के पाहुन आए औ' लौट चले इक क्षण में।

अतिथि निहारें आज हमारी रीती पतझड़-बेला,
आज दृगों में निपट दुर्दिनों का है जमघट-मेला;
झड़ी और पतझड़ से ताड़ित जीवन निपट-अकेला;
हम खोए-से खड़े हुए हैं एकाकी आँगन में,
प्राणों के पाहुन आए औ' चले गए इक क्षण में।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
दिनाङ्क ६ मई १९४८

प्रिय, मैं आज भरी झारी-सी

प्रिय, मैं आज भरी झारी-सी,
ललक ढुलूँगी श्री चरणों में, निज तन-मन-वारी-सी,
साजन, आज भरी झारी-सी।

१

अर्पित करने कंचन-काया—
मैं आई हूँ लख तम छाया;
प्राणार्पण में नहीं सुहाती—
जग उजियाले की वह माया;
आज अँधेरे में खिल डोली, हिय-कलिका न्यारी-सी;
प्रिय, मैं आज भरी झारी-सी।

२

यह तम का पर्दा रहने दो,
मेरा 'अह' यहाँ वहने दो;
इस अँधियाले में ही मुझको
आत्म-विसर्जन-सुख सहने दो;
ओ मेरे प्रकाश, आओ ओढे चादर कारी-सी;
प्रिय, मैं आज भरी झारी-सी।

३

'मत पूछो, मम ग्राम कहाँ है,
ज्ञात नहीं निज धाम कहाँ है;
अपनापन तो लुप्त हो रहा,
मेरा निज का नाम कहाँ है;
अब तो 'तुम' हो, और तमिस्रा है यह अँधियारी-सी;
प्रिय, मैं आज भरी भारी-सी।

४

चली आ रही हूँ ध्रुव पग धर—
बरबस खिचती-सी इस मग पर;
तारा-चन्द्र रहित मम अम्बर,
दिशा-शून्य मम पन्थ विघ्नहर;
आज सभी दिक्-शूल बने हैं सुमन, कली प्यारी-सी,
प्रिय, मैं आज भरी भारी-सी!

५

क्या तुम सोचो हो निज मन में :
कौन बला आई तम-घन में?
क्यों यों सोच रहे हो, प्रियतम—
हूक उठाकर इस जीवन में?
मेरी और तुम्हारी तो है, युग-युग की यारी-सी;
प्रिय, मैं आज भरी भारी-सी।

६

भूल गये क्या मुझको, साजन?
मैं हूँ वे एकत्रित रज-कण;

जिनको तुमने स्वकर-परस से—
कभी किया था झन-झन, उन्मन!!
आज वही माटी की पुतली, आई हिय-हारी-सी !!!
प्रिय, मैं आज भरी भारी-सी।

चित्र-शिल्प-आचार्य
श्री असितकुमार हालदार
के निवास-स्थान पर,
लखनऊ
दिनाङ्क १५ दिसम्बर १६३८
रात्रि ८-३६.

उड्डीयमान

१

निशि के दश-दिशि-पथ में फैलाए पंख-जाल,
गति पाकर आज हुआ यह अण्डज भी अकाल;
पंछी उड्डीयमान;
दिक्-संभ्रम हृदय जान,
विकल प्राण, ढूँढ रहा, निज चिर अश्वत्थ-डाल;
फैलाए पंख-जाल।

२

अम्बर के बीच चली—
शाश्वत की टोह भली;
अन्त-हीन इस पथ में, सान्त ने किया कमाल,
फैलाए पंख-जाल।

३

दूर देश, दूर नगर,
अद्भुत, अज्ञात डगर;
किन्तु प्राण-पछी की अथकित, अवरुद्ध चाल,
फैलाए पंख-जाल।

४

शून्य दिशा, पवन शान्त,
नभ-पथ दुर्गम नितान्त,
कौन प्रेरणा अगम्य, प्राण को रही उछाल ?
फैलाए पंख-जाल ।

५

श्वास-क्षुब्ध, चक्षु रुद्ध,
किन्तु लगी लगन शुद्ध,
डैनों की सन-सन में जागरूकता विशाल;
फैलाए पंख-जाल ।

६

उड़ना है, उड़ना है,
पीतम-दिशि मुडना है,
योग नहीं; केवल हो पिय-पद में प्रणत भाल;
फैला है पंख-जाल ।

श्री गणेश कुटीर, प्रताप, कानपुर
दिनाङ्क ६-१-३६

दिन पर दिन बीत चले

छिन-छिन कर अनगिनती दिन पर दिन बीत चले,
विफल हुए कितने मम आमन्त्रण-गीत भले !
दिन पर दिन बीत चले ।

१

आह, प्राण, तुमने तो निरवलम्ब छोड़ दिया,
निज जन से सहसा यों नाता क्यों तोड़ दिया ?
बोलो तो, सहसा क्यों मुझसे मुँह मोड़ लिया ?
मानों मैं था कोई कण्टक तव चरण तले !
दिन पर दिन बीत चले ।

२

वैरी भी कभी-कभी पा जाते हैं पाती,
उकसाते हो तुम रज-दीपक की भी बाती;
फिर, प्रिय, मेरी तो है नव कंचन की छाती,
तब, तव अनपेक्षा यह मुझको ही क्यों कुचले ?
दिन पर दिन बीत चले ।

३

मुसकाकर छोड़ चले मेरी मधु-शाला तुम ?
प्रिय, अब क्या चक्खोगे औरों की हाला तुम ?

दोगे क्या अन्यों को मेरे वे स्नेह-कुसुम ?
मत छिड़को लवण, सजन, हैं मेरे गात जले !
दिन पर दिन बीत चले।

४

चुम्बन की उष्ण-श्वास-स्मृति ही अब रही शेष,
अधर-मिलन-कम्पन क्षण बन आए स्मरण-क्लेश;
आकुल आलिङ्गन का मद आलस है अशेष,
चिर सञ्चित भाव-पुञ्ज दृग से गल-गल निकले;
दिन पर दिन बीत चले !

५

स्मरणों से कब तक, प्रिय, रीता हिय फुसलाऊँ ?
कल्पना-हिंडोले पर कब तक मन दुलराऊँ ?
कब तक स्मृति के बल पर अपने को हुलसाऊँ ?
कब तक पहनूँ प्रिय, तव कल्पित भुज-माल गले ?
दिन पर दिन बीत चले।

६

नयनों के, अधरों के, चुम्बन की चाह लिये,—
हिय में इक दाह लिये, संस्मृति में आह लिये,—
दृग-जल के लघु कण में सागर की चाह लिये,—
चलता ही जाऊँगा मैं मग से बिना टले;
इतने दिन बीत चले।

७

चाहे बीतें दिन-दिन, चाहे हो युग युगान्त,
पर, मम साधना का न फिर भी होगा दिनान्त;

तुमने सोचा है : मैं होऊँगा श्रमित, क्लान्त ?
नहीं तैरता मैं रस-सागर इतने छिछले;
ओ, मेरे मीत भले !

ज़िला जेल, उन्नाव,
दिनाङ्क, ४ मार्च १६४३

आओ, साकार बनो

ओ मेरे निराकार, आओ, साकार बनो,
निरवलम्ब जीवन के तुम चिर आधार बनो,
आओ, साकार बनो।

१

इतने दिन बीत चुके तुम्हें गए, मेरे प्रिय,
सोचो तो, कब से है रिक्त-रिक्त मेरा हिय!
सूख चला है संचित त्वन्निःसृत नेह-अमिय,
आओ, मेरे प्रियतम, मम विगलित प्यार बनो,
मम चिर आधार बनो।

२

मम समाधि-अम्बर में पूर्ण चन्द्र बन विहँसो,
सूने दिङ्मण्डल में कोमल द्युति बन विलसो;
मम चिन्तन-सूत्रों में पार्थिव बन आन फँसो,
बदली बन छाओ, प्रिय, नेह-नीर-धार बनो,
आओ, साकार बनो।

३

निरखो मम कठिनाई, निरखो मम व्यथा नैंक,
सुन तो लो यह मेरी उलझन की कथा नैंक,

चले गए पल में तुम बिना दिए पता नैक,
आँख-मिचौनी यह क्या ? यों मत निःसार बनो,
आओ, साकार बनो।

४

तुम मेरे इन सूने प्राणों के चिर पाहुन,
आ जाओ पॉजन की ध्वनि करते रुन-झुन-झुन;
भर दो मम सान्ध्य-गगन, गा दो कुछ स्वर गुन-गुन,
मम नीरव वीणा के तुम झंकृत तार बनो;
आओ, साकार बनो।

५

ढूँढ थका हूँ तुमको मैं सब दिशि, मेरे प्रिय,
तव सुधि में प्राण रमे हैं अहनिशि मेरे, प्रिय,
अब तो सम्मुख आओ, लग जाओ मेरे हिय,
ओ मेरे निर्विकार, अब तो सविकार बनो,
आओ, साकार बनो।

श्री गणेश कुटीर,
कानपुर
दिनाङ्क ६ जून १९४६

दूभर-सा कटता है तुम बिन जीवन, प्रियतम

दूभर-सा कटता है तुम बिन जीवन, प्रियतम,
चलता ही जाता है काल-चक्र अति निर्मम।

१

कटते हैं निपट विवश ये सूने जीवन-क्षण,
करते ही रहते हैं हम सदा त्वदीय स्मरण;
किन्तु न निर्वेद मिला; आकुल है यह जीवन,
एक टीस हिय में उठ आती ही है थम-थम;
दूभर-सा कटता है तुम बिन जीवन, प्रियतम।

२

प्रवण[1] काल-थाली में, जीवन-क्षण, मुक्ता सम—
लुढके जाते हैं नित। देख रहे हम अक्षम;
पर उन मुक्ताओं में ग्रथित स्मरण-सूत्र परम,
जिसके बल भावी का होता गत से सगम;
यों, स्मर-अवलम्बन ले काट रहे जीवन हम।

---

[1] ढालू

३

प्राणाधिक, कब तक हट पायेगा अन्तर-पट ?
फिर कब तुम आओगे सम्मुख, ओ जीवन-नट ?
मेटो. हे, मेटो, यह विकट यवनिका-संकट !
तुम बिन जीवन-लीला आज हुई पूर्ण विषम;
दूभर-सा कटता है तुम बिन जीवन, प्रियतम ।

४

इतने दिन बीत गए, फिर भी स्मृति प्यारी-सी,—
आ जाती है सम्मुख, सिन्धु-स्नात क्वॉरी-सी,—
टपकाती केसों से जल-बूँदें खारी-सी !
नहीं जान पाए हैं हम यह सब भेद-भरम;
दूभर-सा कटता है तुम बिन जीवन, प्रियतम ।

५

वह मंजुल मुख, वे अति करुण डहडहे लोचन,—
वह तव मुस्कान मधुर, वह तव स्वप्निल चितवन,—
परम सुसंस्कृत, मनोज्ञ, वे संयत स्नेह-वचन,—
इन सब की मधु-स्मृतियाँ मथती हैं अन्तरतम,
दूभर-सा कटता है तुम बिन जीवन, प्रियतम ।

६

अन्तस्तल शून्य आज, आज जगत सूना है,
ओ प्राणों के पाहुन, तुम बिन सब ऊना है;
जीवन में व्यर्थ-भाव उमड़ा दिन-दूना है,
होती ही रहती है हिय में घुट-घुट हरदम;
दूभर-सा कटता है तुम बिन जीवन, प्रियतम ।

७

प्राण, खीझ आती थी कभी-कभी जो तुम पर,
उसकी स्मृति अब बेधा करती है हिय दिन-भर;
क्षमा करो, ओ विलुप्त चिर-उदार हृदयेश्वर,
हम न तुम्हें जान सके जब तुम थे परम सुगम;
अब तो तुम बिन ज्यों-त्यों काट रहे जीवन हम।

८

स्मरणों की माला में फूल-शूल दोनों हैं,
हिय में निर्भ्रान्ति और अकथ भूल, दोनों हैं;
जीवन-वन में शतदल औ' बबूल, दोनों हैं,
तव स्मृति भी है औ' है यह मम दुर्भाग्य अगम;
दूभर-सा कटता है तुम बिन जीवन, प्रियतम।

९

आज हमारे भुज ये हैं तव परिरम्भ-शून्य,
आज भटकते हैं हम जग में अवलम्ब-शून्य,
विगलित हम आज, सजन, हुए ज्ञान-दम्भ-शून्य,
रो-रोकर किसी तरह चलता है जीवन-क्रम;
ज्यों-त्यों ही कटता है तुम बिन जीवन, प्रियतम।

श्री गणेश कुटीर,
कानपुर
दिनाङ्क २९ नवम्बर १९४९

मेरे स्मरण-दीप की बाती

तुम बिन तिल-तिल कर जलती है मेरे स्मरण-दीप की बाती,
देखो तो अब धार बनी है मेरी दृग-बूँदों की पाँती;

१

इधर स्नेह-निधि ने, दृग-धारें बन कर बहने की हठ ठानी,
उधर जगा दी है तव रति ने स्मरण-दीप-वर्त्तिका पुरानी;
मेरा स्नेह, तैल बन जलता, औ' बहता बन पानी-पानी,
यों नित शतधा क्षय होकर भी बढ़ी सनेह-तैल की थाती;
तुम बिन तिल-तिल कर जलती है मेरे स्मरण-दीप की बाती।

२

सघन मोह-तिमिरावृत, विस्तृत, निपट शून्य है जीवन-पथ मम,
आज बनी उसकी पगडंडी व्यथा-शूल-संकुल, अति दुर्गम;
अतिशय सूना, अति एकाकी है मेरा यात्रा का यह क्रम,
तिस पर मुझे मिली संबल में यह लप-झप बाती अकुलाती;
कैसे पन्थ क्रमित होगा यह? जबकि बनें मेरे दिन राती।

३

तुम जा बैठे ज्योति-महल में दीप टिमटिमाता-सा देकर,
तम-भजन न कर सकूँगा, प्रिय, केवल यह स्मृति-दीपक लेकर;
अन्धकार है मन में तुम बिन, तुम बिन लकुटि-शून्य मेरे कर,

और घनी हो गई तमिस्रा लख यह दीप-शिखा बलखाती;
तुम बिन तिल-तिल कर जलती है मेरे स्मरण-दीप की बाती।

४

बन कर हूक अचूक रमे हो, प्रियतम, तुम मेरे जीवन में,
ना जाने किस दूर देस से झाँको हो मन-वातायन में!
ओ मेरे निर्मोही, आओ, मेरे इस सूने सावन में,
भूल गए क्या? जल-धाराएँ तुम बिन मुझको नहीं सुहातीं?
अहनिशि तिल-तिल कर जलती है मेरे स्मरण-दीप की बाती।

५

तुम क्या गए कि इस जीवन की सत्य-प्रेरणा लुप्त हुई है,
तुम क्या गए कि इस जीवन की मधुर भावना सुप्त हुई है,
तुम क्या गए कि मेरी कविता आज बन गई छुई-मुई है,
तुम क्या गए कि इस जीवन में रहा न कोई सहज सँगाती;
तुम बिन तिल-तिल कर जलती है मेरे स्मरण-दीप की बाती।

६

अपनी पत्थर की आँखों से मैंने सब-कुछ देखा है, प्रिय,
महा-प्रयाण-यान पर उन्मन तुमको चढ़ते पेखा है, प्रिय,
हैं कितनी कठोर ये आँखें, इसका क्या कुछ लेखा है, प्रिय,
तुम्हें अग्नि-अर्पण करके भी फटी नहीं यह निष्ठुर छाती!
तुम बिन तिल-तिल कर जलती है मेरे स्मरण-दीप की बाती।

श्री गणेश कुटीर,
कानपुर
दिनाङ्क ११ जुलाई, १९४६

अगणित तव दीपमाला

क्या जगाई है तुम्हीने, सजन, झिल-मिल दीपमाला ?
इस महद् ब्रह्माण्ड भर में खूब फैला है उजाला।

१

परम अणु-अणु में रमे हो, दीप्ति की सुषमा जगाते,
ओ मुदित आलोक-दानी ! फिर रहे तुम लौ लगाते ;
भूमिमण्डल औ' खमण्डल थिरकते हैं जगमगाते;
तब कहो मम सदन अब तक क्यों रहा श्रीहीन, काला ?
क्यों न यों फैला उजाला ?

२

घर अँधेरा छोड़, आया देखने मैं तव दिवाली,
मुग्ध हूँ, प्रिय, लुब्ध हूँ, मै निरख कर यह ज्योति-जाली;
किरण-तन्तु अनन्त फैले, तुम अलस चख अंशु माली;
स्तब्ध हूँ : मुझ पर कहो यह कौन मोहन मन्त्र डाला ?
यों दिखाकर यह उजाला।

३

हूँ सदा से ही गणित में मैं बड़ा असमर्थ, प्रियतम,
किन्तु इच्छा है कि गिन लूँ ये तुम्हारे दीप इकदम,

इकतालीस

और घनी हो गई तमिस्रा लख यह दीप-शिखा बलखाती;
तुम बिन तिल-तिल कर जलती है मेरे स्मरण-दीप की बाती।

४

बन कर हूक अचूक रमे हो, प्रियतम, तुम मेरे जीवन में,
ना जाने किस दूर देस से झाँको हो मन-वातायन में!
ओ मेरे निर्मोही, आओ, मेरे इस सूने सावन में,
भूल गए क्या? जल-धाराएँ तुम बिन मुझको नहीं सुहातीं?
अहनिशि तिल-तिल कर जलती है मेरे स्मरण-दीप की बाती।

५

तुम क्या गए कि इस जीवन की सत्य-प्रेरणा लुप्त हुई है,
तुम क्या गए कि इस जीवन की मधुर भावना सुप्त हुई है,
तुम क्या गए कि मेरी कविता आज बन गई छुई-मुई है,
तुम क्या गए कि इस जीवन में रहा न कोई सहज सँगाती;
तुम बिन तिल-तिल कर जलती है मेरे स्मरण-दीप की बाती।

६

अपनी पत्थर की आँखों से मैंने सब-कुछ देखा है, प्रिय,
महा-प्रयाण-यान पर उन्मन तुमको चढते पेखा है, प्रिय,
हैं कितनी कठोर ये आँखें, इसका क्या कुछ लेखा है, प्रिय,
तुम्हें अग्नि-अर्पण करके भी फटी नहीं यह निष्ठुर छाती!
तुम बिन तिल-तिल कर जलती है मेरे स्मरण-दीप की बाती।

श्री गणेश कुटीर,
कानपुर
दिनाङ्क ११ जुलाई, १९४६

अगणित तव दीपमाला

क्या जगाई है तुम्हीने, सजन, झिल-मिल दीपमाला ?
इस महद् ब्रह्माण्ड भर में खूब फैला है उजाला।

१

परम अणु-अणु में रमे हो, दीप्ति की सुषमा जगाते,
ओ मुदित आलोक-दानी ! फिर रहे तुम लौ लगाते ;
भूमिमण्डल औ' खमण्डल थिरकते है जगमगाते;
तब कहो मम सदन अब तक क्यो रहा श्रीहीन, काला ?
क्यों न याँ फैला उजाला ?

२

घर अँधेरा छोड, आया देखने मैं तव दिवाली,
मुग्ध हूँ, प्रिय, लुब्ध हूँ, मैं निरख कर यह ज्योति-जाली;
किरण-तन्तु अनन्त फैले, तुम अलख चख अंशु माली;
स्तब्ध हूँ; मुझ पर कहो यह कौन मोहन मन्त्र डाला ?
यों दिखाकर यह उजाला।

३

हूँ सदा से ही गणित में मैं बड़ा असमर्थ, प्रियतम,
किन्तु इच्छा है कि गिन लूँ ये तुम्हारे दीप इकदम,

हैं अनेकों दीप; मैं हूँ एक; चिन्तित, भ्रमित, अक्षम,
चलन-कलन-हिसाब मुझसे तो न जायेगा सँभाला;
अगणिता तव दीपमाला।

४

यदि तुम्हारी ज्योति छिटके, इस अँधेरी कोठरी में,
यदि मुझे भी बाँध लो तुम दीपमाला की लड़ी में,
तो हृदय की कलन-लिप्सा शान्त होगी इस घड़ी में,
क्योंकि मैं भी उस निमिष में हो उठूँगा ज्योति वाला।
यदि इधर फैले उजाला।

५

मन मगन होगा, सजन, उस छिन कि जब नव दीप बन कर,
मैं लुटाऊँगा जगत को तव रुचिर आलोक मन हर;
ज्योति का सन्देश लेकर मैं फिरूँगा नित्य घर-घर;
मृत्तिका के पात्र में तुम अब भरो निज रूप-ज्वाला;
इधर फैला दो उजाला।

श्री गणेश कुटीर
कानपुर
दिनाङ्क १०-१२-३८

अनिमन्त्रित

कुछ क्षणों को तुम, कहो तो, द्वार मेरे आ गए क्यों ?
विगत चिन्तन-से, स्मरण में आज सहसा छा गए क्यों ?
द्वार मेरे आ गए क्यों ?

१

धीर पद धरते अटल-से, झूमते, झुकते विनय-से—
निपट संयमशील-से तुम आज मम मन भा गए क्यों ?
द्वार मेरे आ गए क्यों ?

२

तुम वशीकरणीय, पीतम, तुम रुचिर वरणीय साजन
लाजनत तव नयन में अब विरति के रँग-राग ये क्यों ?
द्वार मेरे आ गए क्यों ?

३

आज गुञ्जन हो रहा है स्मरण में, मन में, श्रवण में;
प्राण-वंशी में अचानक मौन स्वर भर गा गए क्यों ?
द्वार मेरे आ गए क्यों ?

४

यह दिवाली की अमावस, घुल रहा नभ में तिमिर-रस,

साँझ तक, रुक, दीप बनने से कहो, शरमा गए क्यों?
द्वार मेरे आ गए क्यों?

५

इस अमावस के तिमिर में बुझ गए हैं दीप मेरे,
निबिड घन तम में, हृदय को हृदय से बिलगा गए क्यों?
द्वार मेरे आ गए क्यों?

फिर गूँजे नव स्वर, प्रिय

आज रोम-रन्ध्रों से फिर गूँजे नव स्वर, प्रिय,
कूक उठी हिय-मुरली फिर से स्वर भर-भर, प्रिय ।

१

सिहर उठा यह धूमिल-धूमिल-सा ग्रीष्म-गगन,
झंझा के झूले में झूल लहर उठा व्यजन,
घुमड़े दल के दल ये मेघ भरे बादल-गन,
अम्बर का वक्षस्थल घहर उठा घर-घर, प्रिय,
फिर गूँजे नव स्वर, प्रिय ।

२

बूँदे टप-टिपिर-टिपिर टपकीं दल-बादल से,
धाराएँ घिर घहरीं नभ के वक्षस्थल से,—
सिहर उठा मलयानिल, हम सिहरे बेकल से,
काँपा मन, उमड़ा हिय, नयन झरे झर-झर, प्रिय,
फिर गूँजे नव स्वर, प्रिय ।

३

थल जल-मय, आप्लावित, कल्लोलित, हुआ त्वरित,
हुए चपल, समल, तरल अगणित ये स्रोत-सरित,

जल बुद्-बुद् वन बिगड़े, हृदय हुआ नेह-भरित,
प्यास-आस प्राणों की बोल उठी सर-सर, प्रिय,
फिर गूँजे नव स्वर, प्रिय।

४

पुलकित हो भूम उठे वट, पीपल, नीम, आम,
कुहू-कुहू कुहक उठी कोयलिया पूर्ण-काम,
हम अपूर्ण, घूर्णित मन, मौन रहे हृदय थाम,
डोल रहे आम तले हम आहें भर-भर, प्रिय,
फिर गूँजे नव स्वर प्रिय।

श्री गणेश कुटीर
प्रताप, कानपुर
दिनाङ्क ४-८-४०

डोले वालो

डोला लिये चलो तुम झटपट, छोडो अटपट चाल, रे,
सजन-भवन पहुँचा दो हमको, मन का हाल-बिहाल, रे;

१

बरखा ऋतु में सब सहेलियाँ मैके पहुँचीं आय, रे;
बाबुल घर से आज चलीं हम, पिय-घर, लाज बिहाय, रे;
उनके बिन, बरसाती रातें कैसे कटें अचूक, रे ?
पिय की बाँह उसीस न हो तो मिटे न मन की हूक, रे,
डोले वालो, बढे चलो तुम आया सध्या-काल, रे,
सजन-भवन पहुँचा दो हमको छोड़ो अटपट चाल, रे।

२

ढली दुपहरी, किरनें तिरछी हुईं, साँझ नजदीक रे,
अभी दूर तक दीख पड़े है, पथ की लम्बी लीक, रे,
आज साँझ के पहले [ही तुम, पहुँचा दो पिय-गेह, रे,
हम कह आई हैं इन्दर मे, रात पडेगा मेह, रे,
घन गरजेंगे, रस बरसेगा होगी सृष्टि निहाल, रे,
डोला लिये चलो तुम जलदी, छोडो अटपट चाल, रे।

३

बाबुल-घर में नेह भरा है; पर वाँ द्वैत विचार, रे,

साजन के नव नेह-सलिल में है अद्वैत-विहार, रे,
हृदय हृदय से, प्राण प्राण से, आज मिलें भरपूर, रे,
पिय-मय तिय, तिय-मय पिय हों जब, तब हो संभ्रम दूर, रे,
दूर करो पथ के अन्तर का यह अटपट जंजाल, रे,
डोले वालो, बढ़े चलो तुम आया संध्या-काल, रे।

४

घन गरजें, तब हो न सजन-आलिंगन का संयोग, रे,
तो फिर कैसे मिट सकता है, हिय का अतुल वियोग, रे?
जब झनकारें अमित झिल्लियाँ, हो दादुर का शोर, रे,
तब हम हुलस कहेंगी उन से: तुम्हरा ओर न छोर, रे,
डोले वालो, कोयल कुहकी हरित आम की डाल, रे,
सजन-भवन पहुँचा दो हमको आया संध्या-काल, रे।

श्री गणेश कुटीर
प्रताप कानपुर
दिनाङ्क २६-६-२६

मान कैसा

चरण-चुम्बन-दान में अब मान कैसा ? प्राण मेरे,
झिझक कैसी ? खीझ क्यों ? यह विरति क्यों ? अभिमान मेरे ।

१

मान मत ठानो, न तानो भृकुटियों की चाप, वल्लभ,
पहुँचने दो चरण-तल तक ये अधर मम शुष्क, निष्प्रभ;
मत हटाओ, मत हटाओ, मत हटाओ, पद-कमल अब,
कर रहे चीत्कार हैं यों प्राण ये नादान मेरे,
मान कैसा ? प्राण मेरे ।

२

ओ सलौने, हो गया है कौनसा अपराध भारी,
जो चरण-आराधना यों तड़पती है यह बिचारी ?
हो गया है विश्व सूना, देखकर यह हठ तुम्हारी,
कल्पना सूनी हुई है, भाव हैं सुनसान मेरे,
मान कैसा ? प्राण मेरे ।

३

जगत-प्रांगण, एक डग में, हो गया है पूर्ण सुविजित,
हुलसती है यह धरा मृदु चरण-तल के परस से नित,
तप्त प्यासे, शुष्क रज-कण हो रहे हैं सरस-से नित,

आह ! फिर भी, क्या रहेंगे ये अधर म्रियमाण मेरे ?
मान कैसा ? प्राण मेरे ।

४

वरजते हो क्यों दृगों से चरण-गत आराधना को ?
फलवती होने न दोगे क्या निरन्तर साधना को ?
निठुर, ठुकराओ न मेरी इस अदीना याचना को,
पद-परस से खिल उठेंगे निपट मुरझे गान मेरे,
मान कैसा ? प्राण मेरे ।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर,
दिनाङ्क ७-९-३६

सजन मेरे सो रहे हैं

सजन मेरे सो रहे है,
आज द्वन्द्वातीत-से वे योग-निद्रित हो रहे है;
सजन मेरे सो रहे हैं।

१

सुख शयन के भार से हैं युग दृग-च्छद अति थकित वे,
ध्यान-वीणा-नाद में हैं रम गए लोचन चकित वे,
नयन-तारा पलक-कारावद्ध है, अति गति-चलित वे,
श्वास दोलाचलन में प्रिय भार तन्द्रिल ढो रहे हैं;
सजन मेरे सो रहे हैं।

२

नींद में घुल-मिल गई हैं जागरण की सब व्यथाएँ,
स्वप्न के संकेत की हैं अटपटी-सी सब कथाएँ,
शून्य-निद्रा-लोक-शोभा सजन जागें तो बताएँ,
इस समय तो चित्त की चिर चेतना वे खो रहे हैं;
सजन मेरे सो रहे हैं।

३

सुप्ति-सरिता-धार में अस्तित्व-तरणी पड गई है,
पूर्ण संज्ञा-शून्यता के भँवर लौं वह बढ़ गई है,

शान्ति के पतवार की शोभा अनोखी नित नई है,
नाव में, विश्रान्ति-जल से, मुख-कमल प्रिय धो रहे हैं;
सजन मेरे सो रहे हैं।

४

ले चलो कुछ देर को तो शयन-अपगा-कूल तक, प्रिय,
दृग निमीलित मम करो; अब थक गए हैं ये पलक, प्रिय,
नित्य जाग्रति-वेदना से हैं, शिथिल मन, बुद्धि, इन्द्रिय,
आज टुक विश्रान्ति के हित मम युगल दृग रो रहे हैं,
सजन मेरे सो रहे हैं।

श्री गणेश कुटीर,
प्रताप कानपुर,
अगस्त १९३६

भावी की चिन्ताएँ

भावी की चिन्ताएँ सम्मुख अब आई हैं,
विषम समस्याओं को घेर-घेर लाई हैं;

१

प्रश्नों की उलझी-सी मालाएँ गले डाल,—
बन नृ-मुण्ड-माली-सा, आया है विकट काल!
सर्वनाश का श्मशान जाग उठा है कराल,
अट्टहास करती सब जोगिनियाँ धाईं हैं!
विकट समस्याएँ बन, घिर-घिर, ये आईं हैं!!

२

मानव की छाती पर मण्डित हैं अरुष-चिह्न*,
मानव की वाणी का अर्थ-भेद भिन्न-भिन्न;
मानव का जीवन है अश्रु-स्वेद-रक्त-क्लिन्न!
मानव ने ही अपनी गाँठें उलझाईं हैं,
भावी की चिन्ताएँ सम्मुख अब आईं हैं।

३

आज बना है मानव निरवलम्ब, अनिकेतन,
आज निराश्रित-से हैं सब जग-जन-गण के गन;

---

* अरुष् अर्थात् घाव, अरुष्-चिह्न अर्थात् घावों के निशान।

विजय मत्त जडता है; पराभूत है चेतन,
परवशता की, मानव दृग में, परछाईं हैं!
विपम समस्याएँ ये घिर-घिर कर आईं हैं!!

४

उलझा है वैयक्तिक, सामाजिक तारतम्य,
भावी क्षण नहीं रहे कल्पना-विचार-गम्य;
हिय में कैसे आए कोई मनुहार रम्य?
आज अनिश्चितताएँ सभी ओर छाईं हैं;
भावी की चिन्ताएँ सम्मुख अब आईं हैं!!

केन्द्रीय कारागार, बरेली
दिनाङ्क, १६ जून १९४४

अब कब तक खोजोगे साजन ?

अब कब तक खोजोगे साजन ?
अब खोजा तो जगत हँसेगा औ' तुम मर जाओगे लाजन,
अब कब तक खोजोगे साजन ?

१

हुआ पराया वह पीतम भी जिसको तुम समझे थे अपना,
उसने ही यदि त्याग दिया तब अब क्या नाम किसी का जपना ?
अब न देखना सपने, यह था अन्तिम मधुर तुम्हारा सपना !
अब क्या नव स्वर ? जब कि स्तब्ध है उन चरणों की पायल, पॉजन;
अब कब तक खोजोगे साजन ?

२

तुमने दिये अर्घ्य आँसू के; पर, उनमें था मटमैलापन;
तुमने हृदय प्रसून चढ़ाया; पर, उसमें था पार्थिव स्पन्दन;
यदि न ग्रहण कर सके सजन यह तव उपहार, प्यार-अभिव्यंजन,—
तो यह भाग्य तुम्हारा, कोई क्यों ले टूटा-फूटा भाजन ?
अब कब तक खोजोगे साजन ?

३

तुम कैसे हो, यह तो सोचो, तुममें क्या है, अरे हठीले ?
कोई क्यों आकर के पोंछे ये तव लोचन गीले-गीले ?

कट जाने दो जीवन यों ही, भूलो वे क्षण रङ्ग-रँगीले !
यदि होता है तो होने दो जीवन का सम्पूर्ण विभाजन;
अब कब तक खोजोगे साजन ?

४

एक तार, इक स्वर, इक तन्त्री, एक नाद, इक राग, एक रस,—
इसी तरह अब तक का जीवन तुमने बिता दिया है बरबस;
किन्तु हुआ स्वर भङ्ग सदा ही, ताने दिये जगत ने हँस-हँस;
अब मत स्वर साधो, वैरागी, अब तुम करो मौन-आराधन;
अब कब तक खोजोगे साजन ?

श्री गणेश कुटीर
दिनाङ्क १३ जनवरी १६४२

ओ प्रवासी ?

ओ प्रवासी, घूमकर यों देखते हो कौनसा थल ?
कौनसी स्मृति जग उठी ? हिय में मची क्यों आज हलचल ?

१

झूलता है नाम जिसका श्वास के हिण्डोल में नित,
गूँजता जो प्राण-वंशी के अबोले बोल में नित,
याद जिसकी है नयन-यमुना-लहर-कल्लोल में नित,
आज क्या उसका स्मरण आया तुम्हें, ओ पथिक चंचल ?
ओ प्रवासी, घूमकर यों देखते हो कौनसा थल ?

२

कौन बैठा है तुम्हें यों याद करने, ओ प्रवासी ?
क्यों समझते हो कि तुम भी हो किसी के हिय-निवासी ?
याद है जब खीझकर उनने तुम्हें दी थी विदा-सी ?
नेह के भूखे-पियासे, तुम बने क्यों विसुध, बेकल।
कौनसी स्मृति जग उठी है ? आज क्यों है हृदय चञ्चल ?

३

क्या सजन की खिड़कियों की याद तुमको आज आई ?
या कि उनकी झिड़कियों की याद ने स्मृति-रति सताई ?

ओ प्रवासी, चरण गति में शिथिलता कैसी समाई ?
धीर पग धरते बढ़ो तुम पन्थ पर, ओ पथिक, अविकल।
ललककर, यों घूमकर, क्यों देखते हो मिलन का थल ?

रेल-पथ,
चिरगाँव कानपुर,
दिनाङ्क ५ जून १९३६

विस्मृत तान

हे मेरी विस्मृत मृदुल तान, दे छेड़ वही प्राचीन गान,
हे मेरी विस्मृत मृदुल तान !

१

आहत हिय की कर शुश्रूषा,
दे खोल आज स्वर-मंजूषा;
नीरवता-निशा हटा सजनी,
छिटका दे निक्वणता-ऊषा;
तू आ जा, छिड़ जा, री अजान,—हे मेरी विस्मृत मृदुल तान !

२

मेरे मानस-नभ-मण्डल में,—
मेरी आँखों के जल-थल में,—
इन श्रवण-युगल में लहरा दे—
अपनी लय-लहरी पल-पल में,
मत कर विलम्ब अब मान, मान,—ऐ मेरी विस्मृत मृदुल तान !

३

स्वर लिपटे हैं विस्मृत-पट में,
ज्यों दृग छिप जाते घूँघट में;

रस-सार कण्ठ का सूख चला,
सर ज्यों अवृष्टि के संकट में;
कर आज मूर्च्छना-सुरस-दान,—ऐ मेरी विस्मृत मृदुल तान !

४

अटपटी सलोनी स्वर-लहरी—
है ठिठकी-सी सहसा ठहरी,
वह कालिन्दी की लहरों-सी
बहती है नहीं यहाँ गहरी;
वह आ, वह आ, अब हठ न ठान,—ऐ मेरी विस्मृत मृदुल तान !

५

छिन-छिन में कर दे तू निहाल,
भर दे जीवन में स्वरित ताल;
गुम्फित कर दे धीरे धीरे—
सातों स्वर की आलम्ब माल;
पूरा कर दे गायन-विधान,—हे मेरी विस्मृत मृदुल तान !

६

है मेरी हृदय-तरङ्ग दीन
यह बनी, सजनि, स्वर-सङ्ग-हीन,
भर दे सुस्वन-कम्पन जग में,
कर दे हिय को रस-रङ्ग लीन;
करने दे मुझको अमिय पान,—हे मेरी विस्मृत मृदुल तान !

डिस्ट्रिक्ट जेल
गाज़ीपुर
दिनाङ्क १० जनवरी १९२१

अभिशाप

एक चुम्बन ही हुआ यह शाप जीवन का भयंकर,
अधर-सम्मेलन बना अनुताप जीवन का भयंकर।

१

आज सोचूँ हूँ : अरे, क्यों राग की सम्पूर्ति चाही ?
क्यों न अव्यभिचार की चिर रीति जीवन में निबाही ?
क्यों तड़प कर, एक क्षण को, शृङ्खला टूटी वृथा ही ?
बन रहा अब तो असुन्दर वह चिरन्तन स्वप्न सुन्दर;
एक चुम्बन बन गया अभिशाप जीवन का भयंकर।

२

आज सूखी पत्तियों-सा जल उठा है शुष्क जीवन,
और, झुलसा जा रहा है फूँस-सा सम्पूर्ण तन-मन,
झर रहे निःश्वास में चिनगारियों के प्रज्वलित कन,
आज, सहसा फूट निकली अग्नि-धारा तीव्र, दुस्तर,
एक चुम्बन बन गया अभिशाप जीवन का भयकर।

श्री गणेश कुटीर
कानपुर
दिनाङ्क १-८-२६

तुम युग-युग की पहचानी-सी

तुम युग-युग की पहचानी-सी,
हो कौन, सुमुखि ! अनजानी-सी ?

१

मुझको तो कुछ भी नहीं स्मरण—
उस प्राण-मिलन के वे गत क्षण;
उन घड़ियों पर है पड़ा हुआ—
अति कालान्तर का युगावरण,
फिर भी तुमको जो अब देखा, तो, सजनि, लगीं तुम जानी-सी,
तुम कौन अहो, पहचानी-सी ?

२

लम्बा रिश्ता है क्या कोई,
जो देख तुम्हें आँखें रोईं ?
क्या पर्दा-सा हट गया, जो कि,—
लगती जगती धोई-धोई ?
जग नया लग रहा; पर तुम तो लगती हो बहुत पुरानी-सी,
तुम कौन सुमुखि अनजानी-सी ?

३

नयनों में भरी खुमारी थी,
पलकें कुछ भारी-भारी थीं,
तुमने देखा था, यूँ, गोया,
कुछ वहुत पुरानी यारी थी,
उस दिन ही से हो गईं हमारी आँखें तनिक विरानी-सी,
जब तुम आई पहचानी-सी ?

४

थी रही चाँदनी छिटक वहाँ,
जब तुम आई थीं निकट वहाँ;
यूँ लगा कि, तुमको देख जरा,
रह गया चाँद भी ठिठक वहाँ;
हम थे स्तम्भित, थी प्रकृति स्तब्ध, जब आईं तुम मुसकानी-सी ?
ओ, युग-युग की पहचानी-सी ।

श्री गणेश कुटीर
प्रताप, कानपुर
रात्रि १२ बजे
दिनाङ्क ९-२-३६

मान छोड़ो

मान छोड़ो, मानिनी, अब
नयन में सपना भरे तुम विहँस दो अभिमानिनी अब;
मान छोड़ो, मानिनी, अब।

१

आज उत्फुल्लित निशा है;
विहँसती-सी प्रतिदिशा है;
यह घहरती सुरधुनी भी—
इस शरत् में अति कृशा है;
अब न रूठो, प्राण, आई यह ठिठुरती यामिनी, अब,
मान छोड़ो, मानिनी, अब।

२

देव-सरि में आज तिरने—
आ गई हैं चन्द्र-किरणें;
नील अम्बर में लगे हैं
शुभ्र बादल पुञ्ज घिरने;
मद-भरी है प्रकृति, तुम हो क्यों विरत संन्यासिनी अब?
मान छोड़ो, मानिनी, अब।

३

कौन सुख है मान में, सखि ?
टीस उठती प्राण में, सखि;
हहरने लगता है हृदय यह,
जान में, अनजान में, सखि;
पन्थ है यह लघु हमारा, बन चलो सहगामिनी अब;
मान छोड़ो, मानिनी, अब।

४

बाट जीवन की न जाने,—
लुप्त होवे किस ठिकाने!
किन्तु फिर भी बन रहे हैं—
आज अपने ही बिगाने;
क्यों न इस मग में बहे चिर प्रेम की मन्दाकिनी अब ?
मान छोड़ो, मानिनी, अब।

रेल-पथ, हरदोई–कानपुर
दिनाङ्क १-१२-३८

फागुन

१

अरे ओ निरगुन फागुन मास !
मेरे कारागृह के शून्य अजिर में मत कर वास;
अरे ओ निरगुन फागुन मास !

२

यहाँ- राग रस-रङ्ग कहाँ है ?
झाँझ न मदिर मृदङ्ग यहाँ है;
अरे चतुर्दिक फैल रही यह
मौन भावना जहाँ-तहाँ है।
इस कुदेश में मत आ तू रस-वश हँसता सोल्लास,
अरे, ओ भोले फागुन मास !

३

कोल्हू में जीवन के कण-कण,—
तैल-तैल हो जाते क्षण-क्षण।
प्रतिदिन चक्की के घर्मर में—
पिस जाता गायन का निक्वण;

फाग सुहाग भरी होली का यहाँ कहाँ रस-रास ?
अरे ओ, मुखरित फागुन मास !

४

रामबाँस की कठिन गाँस में,
मूँज-बान की प्रखर फाँस में,
अटकी है जीवन की घड़ियाँ,
यहाँ परिश्रम-रुद्ध साँस में।
यहाँ न फैला तू वह अपना लाल गुलाल-विलास;
अरे, अरुणारे फागुन मास !

५

छाई जंजीरों की झन-झन;
डंडा बेड़ी की यह घन-घन;
गर्रे[1] का अरोटा फैला;
यहाँ कहाँ पनघट की खन-खन ?
कैसे तुझको यहाँ मिलेगा होली का आभास,
अरे, हुरियारे फागुन मास !

६

यह निर्बन्ध भावना ही की,—
चपल तरङ्गें अपने जी की,—

---

१ गर्रा—वन्दी-गण बैल के सदृश जुतकर जिस यन्त्र से कुएँ से पानी खींचते हैं, उसे गर्रा कहते हैं। कारागार की भाषा मे इस प्रकार जल खींचने वाली टोली को 'गर्राकमान' कहा जाता है।

इन तालों जँगलों के भीतर—
घुँट-घुँट संतत हो गई फीकी;
अब तू क्यों मदमाता ताण्डव करता, रे, सायास ?
अरे, मतवाले फागुन मास !

ज़िला जेल
गाज़ीपुर
दिनाङ्क २६ फ़रवरी १९३१

वायु से—

न वह, तू री, अटपटी बयार !
जर्जर मेरे वातायन हैं, टूटा मेरा द्वार ।
न वह, तू री, अटपटी बयार ।

१

आज साँझ के समय न कर री, तू ऐसा उत्पात,
छप्पर के तिनकों के प्रति यह कैसा अत्याचार ?
न बह, तू री, अटपटी बयार ।

२

मेरे तन के चिथड़ों से क्यों तुझको इतना बैर ?
मत झकझोर उन्हें, री चपले, बिखर जायँगे तार;
न वह, तू री, अटपटी बयार ।

३

सूखे पात उड़ाकर, लाकर, आँगन में मत डाल;
इस पतझड़ की दुसह वेदना का मत कर विस्तार;
न वह, तू री, अटपटी बयार ।

४

सर-सर हहर-हहर करती मत आ कुटिया के बीच ।

री बावरी, जग उठेगा यह सोया मम संसार।
न वह, री, तू अटपटी बयार।

५

झपट-लिपट मत मुझ दुखिया से, सुन बासन्ती, नैंक,
मेरे शून्य अजिर में आकर कर मत हाहाकार;
न वह, री, तू अटपटी बयार।

ज़िला जेल
गाज़ीपुर
दिनाङ्क ८ फरवरी १९३१

दिग्-भ्रम

गाफिल, किस बीहड में भटका ? रे, गाफ़िल, किस बीहड में भटका ?
इस प्रदेश में फिर न हठीले, यहाँ बडा है खटका।
गाफिल, किस बीहड में भटका ?

कितनी मंजिल तै कर आया ? कितनी दूर ठिकाना ?
आँखें कहाँ छोड़ आया तू ? किस दुबिधा में अटका ?
गाफिल, किस बीहड में भटका ?

पगडंडी तू खोज रहा है अकुलाया, बौराना ;
महाकाल ने पदचिह्नों को विकट गले में गटका।
ग़ाफिल, किस बीहड़ में भटका ?

बियाबान, सुनसान, कान दे; मान, मान जा, बैरी,
अभी लौट जा, बढ़ मत आगे,—है यह पथ सकट का।
गाफिल, किस बीहड में भटका ?

सूखे ओठ, गला चिटका, मुख लटका, प्राण पियासे,
आँखें खोज रहीं जल, मिलता कहीं न पथ पनघट का।
ग़ाफिल, किस बीहड में भटका ?

ऊँचे झाड, कँटीले झंखाडों ने वन-मग छाया,
किस संभ्रम ने लाकर तुझको इस अरण्य में पटका ?
गाफिल, किस बीहड में भटका ?

ज़िला जेल गाज़ीपुर
दिनाङ्क १२ दिसम्बर १९३०

इकतारा

मेरी वीणा में एक तार—गायक तू भी यह छवि निहार।

१

एकाकी स्वर का मृदु निक्वण—
होता है स्वनित यहाँ प्रतिक्षण;
गाऊँ . कैसे शङ्कराभरण ?
दरसाऊँ कैसे स्वर-लक्षण ?

है सात स्वरों का कठिन भार, मेरी वीणा में एक तार।

२

मेरी तो बस है एक टेक,
धुन एक, एक लय, ताल एक;
मूर्च्छना-मुरज सब काल एक;
गाऊँ मैं कैसे स्वर अनेक ?

क्या जानूँ करना स्वर-सिंगार ? मेरी वीणा में एक तार।

३

प्रिय के वातायन के नगीच,
सूनी रातों के ऐन बीच,—
लोचन से वीणा सींच-सींच—

कोमल खूंटी को रच खींच—
करता हूँ अँगुली का प्रहार—उस जगह जहाँ है एक तार ।

४

भीनी - भीनी - सी स्वर - लहरी—
कुछ धीमी-सी, कुछ-कुछ ठहरी,—
कुछ अमृतमयी, कुछ-कुछ जहरी,
कुछ झिल-मिलती, कुछ-कुछ गहरी,—
वह आती, ज्यों नभ-गंगधार—मेरी वीणा में एक तार ।

ज़िला जेल
गाज़ीपुर
दिनाङ्क १२-१२-१९३०

मनुहार

टुक रो लेने दो तनिक देर; क्यों छेड़ रहे हो बेर-बेर?

१

छेड़ो न, रंच रो लेने दो,
मेरे मनकी हो लेने दो,
हिचकियाँ उठें, रोको न इन्हें,
जल से लोचन धो लेने दो;
यह तारतम्य मत दो बिखेर, टुक रो लेने दो तनिक देर।

२

मैं रो लूँगा चुपके-चुपके,
दृग धो लूँगा चुपके-चुपके,
कोई न कभी सुन पायेगा,
बैठा हूँ कोने में छुपके,
कुछ मत पूछो तुम घेर-घेर, टुक रो लेने दो तनिक देर।

३

बहती हैं बूँदें गोल-गोल,
भीगे हैं ये दोनों कपोल,
संचित सुमनोरथ भाग चले,—
दृग के वातायन खोल-खोल,

रोको न, करो मत इन्हें जेर, टुक रो लेने दो तनिक देर।

४

क्या बतलाऊँ क्या होता है ?
पागल दुखिया क्यों रोता है ?
यह भी विडम्बना है, सजनी,
जग हँसता, जब वह रोता है;
है इस दुनियाँ का यही फेर, टुक रो लेने दो तनिक देर।

५

मेरी वेदना सहेली है,
बचपन से वह सँग खेली है;
जल-कण से बूझ रहा हूँ मैं—
यह जीवन जोकि पहेली है;
टुक सुलझाने दो, सुनो टेर,—क्यों छेड़ रहे हो बेर-बेर ?

६

धाराएँ उमड़ी आती हैं,
छिन भर में फिर बह जाती है,
अभिलाषाओं के पुञ्ज, सखी,—
ये बरबस आन लुटाती हैं;
लुटने दो इनको ढेर-ढेर, टुक रो लेने दो तनिक देर।

७

कँकरीले नयन करकते हैं,
भीगे हिय-हार सरकते हैं;
चिर दुख के द्रवीभूत क्षण ये—
मोती - से ढुलक ढरकते हैं;

मत देखो यूँ आँखें तरेर, टुक रो लेने दो तनिक देर।

८

बहती है यों अखण्ड धारा,
सिंचता है सुरति-क्षेत्र प्यारा;
दो धाराओं का एक स्रोत,—
पथ किन्तु बना न्यारा-न्यारा;
दाएँ-बाएँ का हेर-फेर, टुक रो लेने दो तनिक देर।

९

कैसे देखूँ जग की झाँकी?
लीलामय की लीला बाँकी?
आँखों के जल में तैर रही—
छवि निठुर तुम्हारी प्रतिमा की;
लोचन-कण से क्यों तुम्हें बैर? टुक रो लेने दो तनिक देर।

१०

यौवन यों बीता जाता है,
हिय पल-पल में अकुलाता है,
मुझको रह-रह के इधर-उधर—
उन्मत्त भाव भटकाता है;
टुक रो लेने दो तनिक देर, क्यों छेड़ रहे हो बेर-बेर?

११

मार्ग-च्युत हूँ, हूँ लक्ष्य हीन,
तन छीन, बना हूँ मन मलीन,
मतिहीन, लीन मादकता में
मारा फिरता हूँ मैं नवीन;

पथ पर तुम लाओ मुझे घेर, टुक रो लेने दो तनिक देर।

१२

आदर्श-सुमरनी के मनके,—
स्मृति-साधन ये जीवन धन के,—
बिखरे हैं एक-एक कर के,
हैं भग्नतार इस जीवन के;
टूटा है माला का सुमेर, टुक रो लेने दो तनिक देर।

१३

होली-सी जल उठती क्षण में,
मँडराता धुआँ कभी मन में,
फिर कभी-कभी लगतीं झड़ियाँ,
लुटती निधियाँ जल कण-कण में;
आँधी पानी का यही फेर, टुक रो लेने दो तनिक देर।

१४

सुइयाँ-सी चुभ-चुभ जाती हैं,
यह हूक-कूक उठ आती है,
आँखों के कुहरे में छुपके—
वेदना, विषाद लुटाती है,
टुक रो लेने दो तनिक देर, क्यों छेड रहे हो बेर-बेर?

१५

जीवन-पथ टेढ़ा-मेढ़ा है,
सजनी, यह एक बखेड़ा है,
यह मुसाफिरी का दीवाना—
यात्री भी ऐंड़ा-बेंडा है;

लो, इधर उधर पड रहे पैर, टुक रो लेने दो तनिक देर।

१६

कुछ आए स्मरण विषाद भरे,
कुछ गये उधर की ओर, अरे,
कुछ ढरक गये वक्षस्थल पे—
कुछ उन चरणों में जा बिखरे;
घिर आती बदली बेर-बेर, टुक रो लेने दो तनिक देर।

ज़िला जेल
गाज़ीपुर
दिनाङ्क २२ दिसम्बर १९३०

भिक्षा

भर दो, प्रिय, भर दो अन्तरतर,
विश्व-वेदना के कल जल से आप्लावित कर दो अभ्यन्तर;
भर दो, प्रिय, भर दो अन्तरतर।

१

छलका दो मेरी वाणी में अचर-सचर की विगलित करुणा;
समवेदना-भावना से तुम कम्पित कर दो यह हिय थर-थर;
भर दो, प्रिय, भर दो अन्तरतर।

२

नभ-जल-थल में अनिल-अनल में करुण मोहिनी छवि दिखला दो,
पुलक-पुलक वह आने दो, प्रिय, मेरे नयनों का लघु निर्झर;
भर दो, प्रिय, भर दो अन्तरतर।

३

इठलाते कुसुमों का मादक परिमल मन-नभ में फैला है;
अपनी निर्गुण गन्ध-किरण से चिर निर्धूम करो मम अम्बर;
भर दो, प्रिय, भर दो अन्तरतर।

४

मेरी मुग्धा व्यथा परिधि गत हुई—उसे निःसीम बना दो;
मुक्त करो, प्रिय, मुक्त करो मम करुणा-वीणा के ये सुस्वर;
भर दो, प्रिय, भर दो अन्तर तर।

प्रताप प्रेस
दिनाङ्क २४-११-३१

तुम सत्-चित्-अवतार, रे

हमरे बलम कों कोउ न जगइयो, कोउ जनि गाइयो मलार, रे,
कँगनन की खन-खन जनि करियो, ना पायल झनकार, रे।

१

हम अनगिनत बलैयाँ लै कें आई हैं पौढ़ाय, रे;
तनक खनक सौं सजन जगैं हैं, हैं सुकुमार सुभाय, रे;
सोए हैं पिय गहन तिमिर की कारी चादर ओढ़, रे;
रंगमहल के दीप बुझे हैं; बलम रहे हैं पौढ, रे;
कोउ न फैंकियौ इतै हँसी की मृदु किरणें द्वै-चार, रे;
हमरे पिया को कोउ न जगइयौ; कोउ जनि गाइयो मलार, रे।

२

चल जागृति, तू दुबकि बैठिजा जहाँ द्रुमन की भीर, रे;
अरी, खेल के ये क्षण नाँहीं, छायौ तिमिर गँभीर, रे;
कुंजन-कुंजन, रौंस-रौंस पै अब तू नैकु न डोल, रे;
मेरे साजन के ये मीलित लोचन-पुट जनि खोल, रे;
हमरे रंगमहल में छाई है विश्रान्ति अपार, रे;
हमरे बलम कौं कोउ न जगइयौ, जनि कोउ गाइयो मलार, रे।

३

राग भरी कारी कोयलिया, तू क्यों कूकी आय, रे?

कैसें-कै तोहि मूक करें हम ? याको कौन उपाय, रे ?
तू जागृति की दूती बनि कैं आई है उद्यान, रे;
अरी कलमुँही अभी निशा है, अबहि न भयो विहान, रे;
कच्ची नींद, अबहिं पौढ़े है हमरे प्राणाधार, रे;
तू क्यों उन्हें जगावन आई ? तू क्यों उठी पुकार, रे ?

४

हम चाहत है नीरवता; पै, प्रकृति बड़ी है ढीठ, रे;
कोयल और पपीहा के मिस पठवत रहत बसीठ, रे;
आज बदी है होड प्रकृति ने, हमरे सँग, करि डाह, रे !
पै, हम जीतेंगी निहचैं हीं, पिय के हाथ निवाह, रे !!
तुम मति जगियौ, बालम जोगी, सोवहु पाँव पसार, रे;
गणिका प्रकृति कहा करि लैगी ? तुम सत्-चित्-अवतार, रे !!!

केन्द्रीय कारागार, बरेली
दिनाङ्क १९ दिसम्बर १९४३

मैं तो सजन, आ ही रही थी

क्यों बजाई बाँसुरी? मैं तो, सजन, आ ही रही थी;
अयुत जन्मों की तृषा भर नयन में ला ही रही थी।

१

क्या बताऊँ कब सुने थे तब सुरति-आह्वान के स्वन?
युग अनेकों हो चुके हैं जब सुना था वह निमन्त्रण!
किन्तु झंकृत हैं अभी तक उन स्वरों से प्राण, तन, मन;
नवल स्वर-शर क्यों? पुरानी कसक अस्थायी नहीं थी!!
सजन, मै आ ही रही थी।

२

क्या कहूँ है पन्थ कैसा, क्या दशा है चरण-तल की?
क्या कहानी मै सुनाऊँ आज निज यात्रा विकल की?
स्वेद झलका भाल पर, पद तले शोणित-धार झलकी;
किन्तु मैं तव निठुरता पर, सतत मुसका ही रही थी;
सजन, मैं आ ही रहो थी।

३

क्या कहूँ, कब श्याम घन बन तुम घिरोगे मम गगन में?
क्या बताऊँ, मधु पवन बन कब लगोगे तप्त तन में?
कुछ कहो तो, शरद-शशि बन कब खिलोगे शून्य मन में?

क्यों बजाई वेणु? मैं ये प्रश्न सुलझा ही रही थी;
सजन, मैं आ ही रही थी।

४

मत बजाओ वेणु, यों दिक्-काल-पट-आवरण में दुर,
सुन तुम्हारे मुरलिका-स्वर सिहरते है प्राण आतुर;
मुरझ जाता है, सजन, यों हृदय का निष्काम अंकुर;
स्वर-प्रणोदन क्यों? जब कि मैं मार्ग पर जा ही रही थी;
सजन, मैं आ ही रही थी।

५

उतर आए भूमि पर सब भाव मेरे गगन-चारी,
आज थल-चर हो गए है मम मनोरथ नभ-विहारी;
रज-कणों में ही तुम्हें नित खोजती हूँ मैं विचारी;
सेन्द्रिया मैं, अगुणता से नित्य उकता ही रही थी;
सजन, मैं आ ही रही थी।

६

याद है : मैंने तुम्हारे हैं कभी पद-पद्म चूमे;
तव कमल-मुख पर कभी हैं मत्त मम दृग-भृङ्ग भूमे;
पूर्ण अंगीकार में था लुप्त द्विविधा - रूप—तू - मैं!
विलग होकर भी मिलन के गीत मैं गा ही रही थी;
सजन, मैं आ ही रही थी।

केन्द्रीय कारागार, बरेली
दिनाङ्क ४ अगस्त १९४४
रक्षा-बन्धन पूर्णिमा

खोलो ये बन्द द्वार

खोलो तुम आकर अब ये मेरे बन्द द्वार,
मेरे घर छाया है गहन, सघन अन्धकार;
हैं मेरे बन्द द्वार।

१

बन्द पड़े हैं मेरे सब गवाक्ष वातायन,
कहो किधर से आवें घनतम-हर ज्योतिष्कण ?
ऊब उठा हूँ अब मैं लख-लख यह तिमिर सघन,
आओ, आघात करो, खुल जाएँ ये किवार,
खोलो मम बद्ध द्वार।

२

यह स्वभाव मानव का : कर लेता बन्द द्वार;
यों ही वह लेता है निज शिर पर तिमिर-भार;
यों करता विवश उसे आत्म-सुरक्षण-विचार
आकर मेटो तो, प्रिय, मेरा यह हिय-विकार !
दूर करो अन्धकार।

३

आज तुम्हें मानव को कुछ उन्नत करना है,
उसका यह अहंकार तुम्हें विनत करना है;

उसका अज्ञान मोह आज तुम्हें हरना है;
अन्यथा न होगा यह मानव सच्चिदाकार।
खोलो ये बन्द द्वार!

४

मेरे प्रिय, आ जाओ, दूर करो तम कराल,
मेरे काली दह का नाथो यह तिमिर-व्याल!
मेरी कालिन्दी का दूर करो मोह-काल;
मेरा गृह चमका दो, सुन लो मेरी पुकार!
हे मेरे बन्द द्वार!

केन्द्रीय कारागार, बरेली
दिनाङ्क २९ दिसम्बर १९४३

मेरे आँगन खंजन आए

मेरे आँगन खंजन आए,
चटुल, चपल, प्रति पल-पल चलते ये चंचल दृग-रंजन आए;
मेरे आँगन खंजन आए !

१

अति सुकुमार-सुघड़, अति आतुर, स्वेत, श्याम, अभिराम, मनोहर,
ये अति दूर देश के वासी, सतत प्रवासी, शरद गगन-चर;
संतत कम्पित, सतत चकित अति, सन्तत टोह निरत, फर फर-फर;
जन-गण-मन की चंचलता के ये चपलक[1] अभिव्यंजन आए;
मेरे आँगन खंजन आए !

२

आन्दोलित करते रहते हैं निमिष-निमिष में निज लघु लाङ्गुल;
तनु चरणों पर बैठे मानों झूला झूल रहे हैं डुल-डुल;
क्षण-क्षण, रज कण-कण में जीवन खोज रहे ये मंजुल वंजुल;[2]
अलस भावना-गंजन करते ये पावस-दुख-भंजन आए;
मेरे आँगन खंजन आए !

---

१. अस्थिर

२. पक्षी का नाम

३

कौन सँदेसा लाए हैं ये? लाए किनकी स्मृति दीवानी?
मेरे आँगन आए हैं क्या ये करने अपनी मनमानी?
आज, किन्हीं नयनों की सुधि क्या कर देगी हिय पानी-पानी?
इसीलिये क्या इस निर्जन मे खंजन बन स्मृति-अंजन आए?
मेरे आँगन खंजन आए!

४

देख खंजनों को क्यों प्रिय के लोचन की सुधि हिय में जागे?
ये चंचल क्या टिक पाएँगे उनके उन नयनों के आगे?
कहाँ सजन के नित गभीर दृग! और कहाँ ये चपल अभागे!
चलित खंजनों ने पीतम के वे लोचन-गुण रंच न पाए!!!
मेरे आँगन खंजन आए!

५

मैं जानूँ हूँ मेरे प्रिय के नयनों में सपने सोते है;
चिन्तन-भार-नमित पलकों में मन्वन्तर विलीन होते है;
मेरे प्रियतम के दृग अपनी स्थिर गभीरता कब खोते हैं?
हे खंजन, मैंने तो सन्तत अपने सजन निरंजन पाए!!
मेरे आँगन खंजन आए!

केन्द्रीय कारागार, बरेली,
दिनाङ्क २३ फरवरी १९४४

तुम मेरी लोल लहर

तुम मेरी निर्झरिणी, तुम मेरी लोल लहर,
तुम मेरे गहर भँवर, तुम मेरे कल-कल स्वर।

१

तुम मेरी मृदु श्रुति, लय; तुम मेरे सजल गान,
तुम मेरी ताल तरल; तुम मेरी नवल तान;
तुम मेरी अक्षय वीणा, तुम मेरे वीणा-क्वाण,
तुम हो मम वे स्वर जो गमके हैं ठहर-ठहर!
तुम मेरी लोल लहर!

२

तुम मेरी रस कविता, तुम मेरे स्नेह-छन्द,
तुम मम अव्यभिचारी भाव, सहज, चिर, अमन्द;
तुम मेरे अभिव्यंजन; तुम मम आनन्द-कन्द;
तम मम शृङ्गार-करुणा गहन शान्त-रस-सागर!
तुम मम कल्लोल लहर!

३

तुम मेरी ज्योतिकिरण; तुम मेरे नील गगन,
सजन, नयन-तारा तुम; तुम मेरे ध्यान मगन,

कासि

गगन-विहारी मेरे; तुम मेरी नेह-लगन,
तम मम दिनकर, निशिपति; तुम मम उडुराजि अजर!
तुम मम कल्लोल लहर!

४

तुम मेरी परिसीमा; तुम मम दिक्-काल-रूप,
तुम ही धर आए हो यह जग-जंजाल-रूप!
पर, तुम हो चिर अकाल, नित्य अदिक्, हे अनूप!
तम को कैसे बाँधे मेरा अस्तित्व-प्रहर?
ओ मेरी लोल लहर!

५

सदा तुम्हीं तुम हो, प्रिय, इस जीवन की गति में,
जीवन ही क्यों? तुम हो जड़ की भी संहति में,
चेतनमय उन्नति में, औ' जड़मय अवनति में,—
मेरे प्रिय, फैल रही तव आभा छहर-छहर!
तुम मेरी लोल लहर!

६

आया हूँ लेकर मैं यह शाश्वत टोह-भार!
हिय पर धर लाया हूँ यह अभाव-छोह-भार!!
कौन? कहाँ? क्यों?—का है यह ऊहापोह-भार!!!
तुम विन, हो रही, प्राण, दूभर अस्तित्व-डगर!
ओ मेरी ज्योति-लहर!

७

तुम मम जीवन-विकास; तुम मेरी चलित श्वास;
तुम मेरे रक्त-रास; तुम मम चेतन-विलास;

इक्यान

तुम मम संयोग-हास; तुम मेरे विरह-त्रास,
तुम मेरे चिर प्रवास; तुम मेरी साध अमर ;
ओ, मेरी लोल लहर !

८

तुम हो मानो अनंग; पर, तुम मम अंग-अंग,
यद्यपि तुम नित असंग; पर, तुम मम संग-सग,
तुम मम कल्पना-चंग, तुम मेरे राग-रंग,
तुम मेरी हिय-उमग; मन-तरग तुम, प्रियवर,
तुम मेरी लोल लहर !

९

गुँथे हुए हो तुम मम पंच-तत्त्व-कण-कण में,
वसे हुए हो तुम इस मेरे आकुल मन में;
तुम हृदय-स्पन्दन में; तुम मेरे लोचन में,
जीवन के क्षण-क्षण में तुम फैले निखर-निखर,
ओ मम कल्लोल लहर !

१०

तव पट से बद्ध हुई मेरी यह प्राण-डोर,
तव मुख-शशि पर अटके मेरे लोचन चकोर,
तव घन वेणी लख-लख, नाच रहा चित्त मोर,
अंगीकृत करने का आया है अब अवसर,
ओ, मेरी लोल लहर !

केन्द्रीय कारागार, बरेली,
दिनाङ्क ६ फरवरी १९४४

प्रिय मम मन आज श्रान्त

श्रान्त नयन, श्रवण श्रान्त, श्रान्त वचन, चरण श्रान्त,
आज श्रान्त मम मन, प्रिय, इन्द्रिय-उपकरण श्रान्त।

१

यह घूर्णित गति प्रवाह, यह चक्रित काल-कलन,—
यह चिर मण्डलाकार सन्तत नक्षत्र-चलन,—
पेख-पेख हूँ अवाक्, आकुल मम प्राण, ललन,
मैं न क्रान्त-दर्शी; मैं क्षीण शक्ति, क्लान्त, भ्रान्त;
प्रिय मम मन आज श्रान्त।

२

शिर पर मन्वन्तर का वर्त्तुल गति-भार लिये,—
जन्मों की हार लिये, स्मृति का अम्बार लिये,—
मेरे प्रिय, आया हूँ मैं प्रपंच-क्षार लिये!
इतना दिक्-काल-क्रमण कर आया हूँ नितान्त;
प्रिय, मम मन आज श्रान्त।

३

कैसे मैं समझूँ इस जीवन से भिन्न मरण?
पग-पग पर मरता हूँ मैं अति निर्विण्ण चरण!

तव मुख स्मयमान[1] बिना, लगन खिन्न-खिन्न स्मरण;
चिन्ता-अञ्जन-गुण से दृग-खञ्जन बद्ध, कान्त;
यह मम मन आज श्रान्त।

४

तव अलखित राज-भवन; परम अगम सिंह-द्वार,
जिसमें दिक्-काल-रूप दो कपाट सुछवि-सार;
इनको तुम बन्द किये बैठे हो, निर्विकार,
खोलो निज सोध समुद, हुआ अमित युग-युगान्त;
प्रिय, मम मन आज श्रान्त।

५

प्रिय, तुमको पाने की उमड़ी हिय बीच लहर,
कहाँ-कहाँ ढूँढ फिरा, बीत गए अयुत प्रहर,
जब देखा तभी मिले आवृत दिक्-काल-अरर[2]
टेर हुई निष्फल मम, कण्ठ हुआ भग्न, क्लान्त;
प्रिय, मम मन आज श्रान्त।

६

मंगलमय, खोलो तो निज मन्दिर के कपाट,
द्वार-देहली पर है नत मम चिन्तित ललाट;
उभरा है उस पर मम जीवन-इतिहास-ठाट,—
वह पुराण, जिससे है अंकित मम भाल-प्रान्त!
प्रिय, मम मन आज श्रान्त।

---

१. सस्मित, मुसकान से खिला हुआ।

२. किवाड़े—दिक्-काल-अरर = दिक् और काल रूपी दो किवाड़े।

७

खोलो निज बद्ध द्वार, आओ, मुसकाते-से,
नयनों में सिहर उठो मधु रस बरसाते-से,
मम श्रवणों में गूँजो गुन-गुन-गुन गाते-से;
हो जाऊँ मै अनन्त, जो हूँ गुण-बद्ध, सान्त,
प्रिय, मम मन आज श्रान्त।

८

यह शाश्वत टोह-भार, यह सन्तत लगन लिये,—
खोज रहा हूँ तुमको मैं उमङ्ग मगन लिये;
गहन असन्तोष बने बैठे हो, सजन, हिये,
आजाओ सम्मुख अब, हों आकुल प्राण शान्त,
प्रिय, मम मन आज श्रान्त।

जिला जेल, उन्नाव,
दिनाङ्क ३० जनवरी १९४३

नैशयाम कल्प-मान

निशि का अति क्षुद्र याम, आज हुआ कल्प-मान,
अस्थिर, चल, चपल निमिष आज हुआ युग-समान,
नैशयाम, कल्प-मान ।

१

अस्थिर मे होता है जब शाश्वत-समावेश,—
सन्मय हो जाते हैं जब अनित्य काल, देश,—
तब होते हैं विलुप्त अचिर चलन-कलन-क्लेश,
सुन्दर, शिव, सत् अकाल रहता है एक शेष;
पाता है परिवर्तन तब चिरता का प्रमाण,
चपल निमिष युग समान ।

२

निशि के चंचल क्षण को तुम देते स्थिर स्वरूप,
छिटकाते स्मित किरणें, हरते घन तम कुरूप,
भरे हुए पूर्णार्पण निज नयनों में, अनूप,
आए साकार बने, तुम मेरे चिर अरूप
उस क्षण अंकित होता क्यों न अमरता-विधान ?
नैशयाम, कल्प-मान ।

३

जब आएँ देह धरे सपने मम मनसि जात;
तब, वह निशि क्यों न बने मेरी सौभाग्य-रात?
तव पद रति अर्पित मम अङ्गीकृत शिथिल गात;
निशि का तम-तोम हुआ मम नव जीवन-प्रभात!
प्रिय, त्वन्मय मेरा मन, त्वन्मय मम विजित प्राण,
ओ, मेरे भासमान!

४

एक निमिष-सम्पुट में भरकर आनन्त्य-प्रहर,
नयनों से कौतुक कर, मुसकाए तुम, प्रियवर!
मृण्मय यह काल-खण्ड, जिसको चल क्षण कहकर,—
हँसते हैं जग-जन-गण, वही हुआ अजर, अमर!
खूब दिया तुमने इस क्षर को अमरत्व-दान,
नैशयाम कल्प-मान।

५

श्रवणों में, नयनों में, प्राण-व्यजन में, मन में,—
अंकित है अमर छाप रोम-रोम, कण-कण में;
गूँजा अनहद निनाद तव कंकण-झन-झन में,
व्योम-गान-तान उठी, मेरे प्रिय, तव स्वन में,
आए दिक्-काल तुम्हें वन्दन करने, सुजान;
ओ मेरे रुचिर प्राण!

श्री गणेश कुटीर
कानपुर
दिनाङ्क २०-८-४२

कमला नेहरू की स्मृति में

देवि, इतने ही दिनों का क्या यहाँ आवास था यह ?
क्या त्वरा थी ? लो, अभी तो शेष कुछ मधुमास था यह।

१

तोड़ कर उस शृङ्खला को जो पड़ी थी मृदुल पग में,—
राजहंसिनि, उड़ चलीं इतनी सुबह अज्ञेय मग में ?
हो गये सम्पूर्ण क्या तव काज सब इस अनित जग में ?
चिर महा अभिनिष्क्रमण का कौन सा उल्लास था वह ?
देवि, इतने ही दिनों का क्या यहाँ आवास था यह ?

२

आत्म-आहुति के ज्वलित ये खेल तुमने खूब खेले,
हन्त ! शुचि आदर्श के हित कौन दुख तुमने न झेले ?
लो, तुम्हारे स्वप्नद्रष्टा प्राणप्रिय अब हैं अकेले,
सुमुखि, इतने ही दिनों का क्या तुम्हें अवकाश था यह ?
देवि, इतने ही दिनों का क्या यहाँ आवास था यह ?

३

देवि, क्या उस पार गूँजी कान्ह की मुरली सलौनी ?
या कि क्रीड़ौत्सुक्य मिस खेली जगत से 'दृग मिचौनी' ?

आज अनहोनी हुई ऐसी, कभी जो थी न होनी,
और कुछ दिन तो रहोगी तुम, हमें विश्वास था यह ;
देवि, इतने ही दिनों का क्या यहाँ आवास था यह ?

४

कौन थीं तुम एक कोमल कल्पना-सी, निठुर जग में ?
कौन थीं तुम सुमन-पँखुरी-सी, विषम इस नियति-मग में ?
कौन थीं तुम, भक्ति-सी, नित नेह के हिय चिर विलग में ?
कौन थीं ? किस देश की थीं ? तव विचित्र निवास था यह ?
देवि, इतने ही दिनों का क्या यहाँ आवास था यह ?

५

निराशा-सिकता-कुपथ में अश्म-रेखा-सी सुअंकित,
वायु-झम्पन में धवल-से हिम-शिखर-सी तुम अशंकित;
निपट अँधियारे गगन में ज्योतिकणिका-सी अकम्पित,—
आज प्राणायाम का क्या आखिरी निःश्वास था यह ?
देवि, इतने ही दिनों का क्या यहाँ आवास था यह ?

उड़ चला

उड़ चला इस सान्ध्य नभ में,
मन-विहग तज निज बसेरा।
क्यों चला ? किसि दिशि चला ?
किसने उसे यों आज टेरा ?

१

क्यों हुए सहसा स्फुरित अति
शिथिल संश्लथ पंख उसके ?
क्या हुए हैं उदित नभ में,
चन्द्रमा अकलंक उसके ?
विकल आतुर-सा उडा है,
मन विहगम आज मेरा !
उड चला है सान्ध्य नभ में
मन-विहग तज निज बसेरा।

२

शून्य का आतुर निमन्त्रण,
आज उसको मिल गया है;
क्षितिज की विस्तीर्णता का,
पवन-अञ्चल हिल गया है;

प्राण-पक्षी ने गगन में,
ललक कौतूहल बिखेरा।
उड़ चला इस सान्ध्य नभ में,
मन-विहग तज निज बसेरा।

३

स्वनित उड्डीयन-ध्वनित-गति—
जनित अनहद नाद से यह—
दिग्दिगन्ताकाश वक्षस्थल,
रहा है गूँज अहरह।
ऊर्ध्व गति ने ध्यान मग्न
गीत-यति को आन घेरा।
उड़ चला इस सान्ध्य नभ में
मन-विहग तज निज बसेरा।

हम तो ओस-बिन्दु-सम ढरके

ओस-बिन्दु-सम ढरके, हम तो ओस-बिन्दु-सम ढरके,
आए इस जड़ता में चेतन तरल रूप हम धरके;
हम तो ओस-बिन्दु-सम ढरके।

१

ना जाने किसने मनमानी कर हमको बरसाया?
क्या जानें क्यों हमको इस भव-मरु-थल में सरसाया?
किसने यों जड़ता-बन्धन में बाँध हमें तरसाया?
कौन खिलाड़ी हमको सीमा-बन्धन दे हरषाया?
था किसका आदेश कि उतरे हम नभ से झर-झर के?
हम तो ओस-बिन्दु-सम ढरके।

२

आज बाष्प बन उड़ जाने की साध हिये उठ आई,
मन-पंछी ने पंख तौलने की रट आज लगाई;

क्वासि

क्या इस अनाहूत ने आमन्त्रण की ध्वनि सुन पाई ?
अथवा आज प्रयाण-काल की नव-शंख-ध्वनि छाई ?
लगता है, मानों जागे है स्मरण आज अम्बर के;
हम तो ओस-बिन्दु-सम ढरके।

श्री गणेश कुटीर,
प्रताप, कानपुर
दिनाङ्क ९ जुलाई १९४२

पाती

मै क्या लिखूँ तुम्हें पाती, प्रिय, अब क्या लूँ मैं शब्द-सहारा ?
जब हिय में तुम बसे हुए हो, तब अभिव्यंजन कौन विचारा ?

१

रोम-रोम में, श्वास-श्वास में, रक्त-कणों में, अन्तर-तर में,—
मेरी ज्ञान-ध्यान-पूजा में, मेरे इस मानस-अम्बर में,—
जब तुम रमे हुए हो मेरी हिय-उमंग की लहर-लहर में,
तब अक्षरों और शब्दों से कौन भेद बतलाऊँ सारा ?
मैं क्या लिखूँ तुम्हें पाती, प्रिय, अब क्या लूँ मै शब्द-सहारा ?

२

साँझ हुई, मानों तव कृष्णा, घन केसावलियाँ लहराईं;
कमल मुँदे, मानों मद भीनी तव एणी[1]-अँखियाँ अलसाईं;
आई ऊपा, मानों तव मृदु मन्द-मन्द स्मिति-किरणें आईं;
यों त्वम् मय है मेरा अग-जग, यों त्वम्-मय मम जीवन-धारा !
मैं क्या लिखूँ तुम्हें पाती, प्रिय, अब क्या लूँ मै शब्द-सहारा ?

३

पर, मेरी क्या जीवन-धारा ? मैं तो एक बिन्दु हूँ केवल;
ऐसा बिन्दु, कि अब धारा हूँ, केवल तव अनुकम्पा के बल;

---

१ मृगी

दी है मुझे तुम्हीं ने तो यह कल-कल-कल स्वर-लहरी अविरल;
अब तो करो एक मेरा यह औं अपना वह कूल किनारा;
मैं क्या लिखूँ तुम्हें पाती, प्रिय, अब क्या लूँ मै शब्द-सहारा ?

४

मुझे नहीं सायुज्य चाहिए; मैं तो हूँ सामीप्य-भिखारी,
तुम अपने हिय के मधु-रस से, बस, भर दो मेरी लघु झारी;
बोलो, मम मन-गगन-विहारी, कब आएगी मेरी बारी ?
तुम ठहरे युग-युग के विजयी, मैं तो हूँ युग-युग का हारा !
मैं क्या लिखूँ तुम्हें पाती, प्रिय, अब क्या लूँ मै शब्द-सहारा ?

केन्द्रीय कारागार, बरेली
दिनाङ्क ७ दिसम्बर १९४२

मरुथल का मृग

मै तो हूँ मरुथल का मृग, प्रिय, हूँ ना जाने कितना प्यासा !
मैने अपने जीवन-वन में, बोलो कब जाना चौमासा ?
मैं तो हूँ मरुथल का मृग, प्रिय, हूँ ना जाने कितना प्यासा !

१

झिलमिल तरल तरंगित-जल-छल झलक रहा है दिशि-दिशि सारा,
ज्यों-ज्यों उस दिशि धाया त्यों-त्यों दूर हटा जल-कूल-किनारा,
निज मरीचिका के भ्रम में मैं दौड रहा हूँ मारा-मारा;
अपने लिए न जाने क्या हूँ ? पर हूँ जग के लिए तमासा !
मैं तो हूँ मरुथल का मृग, प्रिय, हूँ ना जाने कितना प्यासा !

२

यों ही दौड़-दौड़कर तोड़े कितनी बार प्राण ये अपने !
ना जाने, कितने युग से मै देख रहा हूँ वारिद्-सपने !!
किन्तु निहारी नित मरीचिका मम मृग-नयनों की लप-झप ने !!!
पर्णरहित कब हुआ, कहो तो मेरे वन का अर्क जवासा ?
मै तो हूँ मरुथल का मृग, प्रिय, हूँ ना जाने कितना प्यासा !

३

दौड रहा हूँ मरुथल में मै झिझका-सा, अटका-भटका-सा,
यह जीवन भी क्या जाएगा जल बिन ? है अब यह खटका-सा;

देखो तो, प्रिय, आ पहुँचा है यह क्षण जीवन-संकट का-सा;
नद बन बहो ! कि घन बन बरसो !! अब तो मेटो प्राण-पिपासा !!!
मै तो हूँ मरुथल का मृग, प्रिय, हूँ ना जाने कितना प्यासा !

४

मेरी नीर-भरी बदली, तुम, हो क्यों इतनी दूर गगन मे ?
तड़प रहा है यह आकुल हिय, तव सनेह-घन-वारि-लगन में !
मेरी रसभीनी श्यामा, तुम, बरसो मम मन-वन-आँगन मे !
सूखा कण्ठ, ओठ पर पपडी, अन्तर-तर है पका पका-सा ;
में तो हूँ मरुथल का मृग, प्रिय, हूँ ना जाने कितना प्यासा !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
दिनाङ्क ६ दिसम्बर १९४२

पुलकित मम रोम-रोम

पुलकित मम रोम-रोम; मधुर क्वणनमय मम तन;
कम्पित मम तार-तार गूँज रहे हैं क्षण-क्षण।

१

मन-अम्बर में उमड़ी स्वनित गान-गगन-गंग;
है उच्छल स्वर-तरंग; सिंचित है अंग-अंग;
मम सेन्द्रियता अनंग; उन्मन मम हिय-उमंग;
सजन-चरण-अरुण रंग-रंजित जीवन-आँगन;
पुलकित मम रोम-रोम; मधुर क्वणनमय मम तन!

२

मम आकुल नयनों की तुम चिर झाँकी, प्रियतम;
तुम मम मनुहारों की हो छवि बाँकी, प्रियतम;
तुम हो मंजुल प्रतिमा, कवि-उपमा की, प्रियतम;
तव किंकिणि-अनुगामी हैं मेरे गायन-स्वन!
पुलकित मम रोम-रोम; मधुर क्वणनमय मम तन!

३

मृदुल ज्योति-किरण सदृश, भेद-स्वप्न-अन्धकार,—
भले पधारे हँसते, ओ मम जीवनाधार;

धन्य हुआ मेरा वह निद्रा-आलस-विकार;
धन्य हुए तुम्हें निरख मम मीलित युगल नयन !!
पुलकित मम रोम-रोम, मधुर क्वणनमय मम तन !

४

मुझ चिर याचक को यों आ औचक दिया दान;
मैं निद्रित, त्वरित बना चिर जाग्रत के समान;
त्वम्-मय हो गए, सजन, ये मेरे विकल प्राण;
अब तक भी अधरों पर हैं वे तव मधु-रस-कण;
पुलकित मम रोम-रोम, मधुर क्वणनमय मम तन !

केन्द्रीय कारागार, बरेली,
दिनाङ्क २ जुलाई १९४४

मेरे मधुमय स्वप्न रँगीले

बन-बन कर मिट गए अनेकों मेरे मधुमय स्वप्न रँगीले,
भर-भर कर फिर-फिर सूखे हैं मेरे लोचन गीले-गीले।

१

मेरा क्या कौशल ? क्या मेरी चंचल तूली ? क्या मेरे रँग ?
क्या मेरी कल्पना हंसिनी ? मेरी क्या रस-रास-रति-उमँग ?
मै कब का रँग-रूप चितेरा ? मैं कब विचर सका खग-कुल-सँग ?
मम स्वप्नों के चित्र स्वयं ही बने, स्वयं ही मिटे हठीले;
भर-भर कर फिर-फिर सूखे हैं ये मेरे रँग-पात्र रँगीले।

२

मेरे स्वप्न विलीन हुए हैं; किन्तु, शेष है परछाँई-सी,
मिटने को तो मिटे, किन्तु वे छोड़ गए हैं इक झाँई-सी;
उस झिल-मिल-सी स्मृति-रेखा से हैं ये आँखें अकुलाईं-सी;
उसी रेख से बन उठते हैं फिर फिर नवल चित्र चमकीले;
बन-बन कर मिट गए अनेकों मेरे सपने गीले-गीले।

३

कलाकार कब का मै, प्रियतम, कब मैने तूलिका चलाई ?
मैंने कब यत्नतः कला के मन्दिर में वर्त्तिका जलाई ?
यों ही कभी काँप उट्ठी है मेरी अँगुली और कलाई;

यों ही कभी हुए है कुछ-कुछ रसमय कुछ पाहन अरसीले;
बन-बन कर मिट गए अनेकों मेरे मधुमय स्वप्न रँगीले ।

४

मैंने कब सजीवता फूँकी जग के कठिन शैल-पाहन में ?
मैं कर पाया प्राण स्फुरण कब अपने अभिव्यंजन-वाहन[1] में ?
मुझे कब मिले सुन्दर मुक्ता भावार्णव के अवगाहन में ?
यदा कदा है मिले मुझे तो तुम जैसे कुछ अतिथि लजीले !
यों ही बन-बन कर बिगड़े हैं मेरे मधुमय स्वप्न रँगीले ।

गणेश कुटीर, कानपुर
दिनाङ्क २ मई १९४८

---

१ शब्द ।

दान का प्रतिदान क्या, प्रिय ?

दान का प्रतिदान क्या, प्रिय ?
स्वयं को जब दे चुका, तब, प्रति ग्रहण का भान क्या प्रिय ?
दान का प्रतिदान क्या, प्रिय ?

१

नेह के इस हाट में मैंने न जाना भाव क्या है ?
भाव-तावों में पड़े जो, वह सुरति का चाव क्या है ?
दाव पर जब प्राण हैं, तब शेष भी कुछ दाव क्या है ?
जबकि दे डाला सभी कुछ, प्राप्ति का फिर ध्यान क्या, प्रिय ?
दान का प्रतिदान क्या, प्रिय ?

२

मैं न माँगूँगा कि मुझको, निठुर, तुम निज नेह दे दो,
मैं न माँगूँगा कि मम मरु-प्राण को कुछ मेह दे दो;
मैं सतत अनिकेत क्यों माँगूँ कि तुम इक गेह दे दो ?
तव उपेक्षा के गरल का कर न लूँगा पान क्या प्रिय ?
दान का प्रतिदान क्या, प्रिय ?

३

तुम न मेरे हो सको, तब भी मुझे क्या शोच, प्रियतम ?
स्फटिक-हीरक में, कहो, कब आ सका है लोच, प्रियतम ?

तुम निभाओ निज निठुरता नित्य निःसंकोच, प्रियतम,
पर, निभाऊँ मैं न अपनी नित समर्पण-आन क्या, प्रिय?
दान का प्रतिदान क्या, प्रिय?

४

ये लखो, आकाश में चमके नखत अनगिनत, साजन,
यह लखो, मम नयन में चमकी लगन अति विनत, साजन,
और, सिञ्जन कर उठीं तव गमन-उत्सुक-चरण-पाँजन!
तुम न रुककर सुन सकोगे गमन के कुछ गान क्या, प्रिय?
दान का प्रतिदान क्या, प्रिय?

श्री गणेश कुटीर,
कानपुर
दिनाङ्क ४-६-४८

प्राणों के पाहुन

प्राणों के पाहुन आए औ' चले गए इक क्षण में,
हम उनकी परछाँई ही से छले गए इक क्षण में।

१

कुछ गीला सा, कुछ सीला-सा, अतिथि-भवन जर्जर-सा,
आँगन में पतझड़ के सूखे पत्तों का मर्मर-सा,
आतिथेय के रुद्ध कण्ठ में स्वागत का घर्घर-सा,
यह स्थिति लखकर अकुलाहट हो क्यों न अतिथि के मन में?
प्राणों के पाहुन आए औ' लौट चले इक क्षण में।

२

शून्य अतिथिशाला यह हमने रच-पच क्यों न बनाई ?
जग को अपनी शिल्प-चातुरी हमने क्यों न जनाई ?
उनके चरणागमन स्मरण में हमने उमर गँवाई;
अर्घ्य दान कर कीच मचा दी हमने अतिथि-सदन में,
प्राणों के पाहुन आए औ' लौट पडे इक क्षण में।

३

वे यदि रच पूछते : क्यों है अतिथि-कक्ष यह सीला।
वे यदि तनिक पूछते : क्यों है स्फुरित वक्ष यह गीला।
तो हो जाता ज्ञात उन्हें : है यह उनकी ही लीला;

है पंकिलता आज हमारी माटी के कण-कण में,
प्राणों के पाहुन आए औ' लौट चले इक क्षण में।

४

अतिथि निहारें आज हमारी रीती पतझड़-बेला,
आज दृगों में निपट दुर्दिनों का है जमघट-मेला,
झड़ी और पतझड़ से ताड़ित जीवन निपट अकेला;
हम खोए से खड़े हुए हैं एकाकी आँगन में,
प्राणों के पाहुन आए औ' चले गए इक क्षण में।

गणेश कुटीर, कानपुर
दिनाङ्क ६ मई १९४८

गान-निरत मम मन-खग

किर-किर-किर, चिंवॅ-चिंव-चिंवॅ बोल रहे शैल-विहग,
ध्वनि-नन्दित अन्तरतर, गान-निरत मम मन-खग।

१

बाल-रश्मि-स्नात, मुदित, निखरी पर्वत-रानी,
उमॅग उठी मन्सूरी नवल नेह रस-सानी,
पवनान्दोलित शत-शत शाखाएं अरुझानी,
नृत्य-निरत तरु-पल्लव, नाद-मगन सब अग-जग;
ध्वनि-नन्दित वृन्त-वृन्त, गान-निरत मम मन-खग।

२

सघन हरित पल्लवयुत अयुत डाल-भुज वाली,—
नाच रही यह गति-रत गिरि-रानी मतवाली;
डोल उठीं ये बाहें बरबस-सी दे ताली
आली री, यह छबि लख आए मन क्यों न उमॅंग ?
किर-किर-किर, चिंवॅं-चिंवॅ-चिंवॅं बोल रहे शैल-विहग।

३

देखो, यह ध्वनि आई, सीटी सी, कानों में,—
किसी अभागे खग की। क्या उसके प्राणों में—
तड़पन है ? उलझन है क्या उसके गानों में ?

खगी-विरह बन आया क्या उसका काल-उर ?
क्यों यों अकुलाया-सा बोल उठा यह नग-खग ?

४

धूप-छाँह, सुख-दुख, आनन्द-निरानन्द, प्राण !
जीवन के सङ्ग लगे। उलझे हैं रुदन-गान;
शून्य नीड़ लख खग को व्यर्थ लगी निज उड़ान;
खगी निमन्त्रण-मिस यह बहा रक्तमय स्वर-रँग !
इसीलिये अकुलाकर बोल उठा यह नग-खग।

५

धुँधला-सा, नीला-सा अम्बर यह काँप रहा;
अपने सकरुण उर से जगती को ढाँप रहा;
किसी गहनता को, सखि, मम लघु मन नाप रहा;
कितने गहरे हो तुम, बोलो, हे प्राण सुभग ?
आकर क्यों रोक लिया तुमने मम सूना मग ?

६

हलका होने को है क्या शाश्वत टोह भार ?
जीवन में आए हो बनकर क्या पूर्ण प्यार ?
देखो, मम नयनों में है कितना व्यथा-क्षार !
युक्त करोगे क्या तुम मेरा यह भाव विलग ?
ध्वनि नन्दित हृदय, प्राण, गान-निरत मम मन-खग।

काश्मीर विश्रान्ति कुटीर, मन्सूरी
दिनाङ्क १८ अप्रैल १९४९

क्वासि ?

'क्वासि ?' की यह टेर मेरी, 'नास्मि' की अनुगूँज आई,
आज अम्बर से उलट कर यह प्रतिध्वनि दी सुनाई;
'नास्मि' की अनुगूँज आई।

१

निबल, कैसे पा सकोगे वे गगनचारी चरण मम ?
कल्पना के भी थकेंगे पंख कर पद-अनुसरण मम,
क्वणित नूपुर ध्वनि अगम्या; हैं अलख चरणाभरण मम;
यों गहन आकाश-वाणी मन गगन के बीच छाई।
'नास्मि' की अनुगूँज आई !

२

देव, मैं अष्टाङ्गयुत प्रणिपात में ब्रह्माण्ड घेरूँ,
नाम-माला-जाप में सब सौर-मण्डल-चक्र फेरूँ;
गोद में लूँ खींच तुमको यदि तड़पकर आज टेरूँ,
है भरोसा यह तभी तो 'क्वासि ?' की यह लौ लगाई।
'नास्मि' की अनुगूँज आई।

३

'नास्मि' कहने से न होगी तनिक भी विचलित प्रतीक्षा;
सुदृढ आस्तिक भाव की क्यों ले रहे हो तुम परीक्षा,

हम नहीं कच्चे खिलाड़ी; ले चुके हम स्नेह-दीक्षा;
यह तुम्हारी टोह, साजन, जागरण-सन्देश लाई
'नासिम' की अनुगूँज आई।

४

आज तो हैं हाथ मेरे ढूँढते-से और खाली,
पर अवधि इस 'आज' की कब से हुई सीमान्त वाली?
हैं अनादि - अनन्त मेरे 'आज' की घड़ियाँ निराली;
ढूँढ लूँगा साँझ के पहले अवश अपना कन्हाई;
'नासिम' की अनुगूँज आई।

५

आज, दिन रहते, मिलोगे तुम, मुझे है पूर्ण निश्चय,
क्योंकि तुम कह जो गए हो, तुम हरोगे रात का भय;
अङ्कशायी तुम बनोगे; लुप्त होंगे नैश संशय;
है अचल सौभाग्य मेरा, नेह की मेरी सगाई,
'नासिम' की अनुगूँज आई।

श्री गणेश कुटीर,
रात्रि ११ बजे
दिनाङ्क २८ नवम्बर १९३६